अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 1 पौष-माघ वि.सं. 2082 जनवरी, 2026 पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

समिति में पेंटिंग और कविताओं की जुगलबंदी

प्रकृति की पेंटिंग्स और कविताओं की अनोखी जुगलबंदी पिछले दिनों राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में देखने को मिली, जहां रसायनशास्त्री श्रीमती (डॉ.) विजया काबरा के बनाये चित्रों पर चिकित्सक डॉ. श्रीगोपाल काबरा और साहित्यकार डॉ.रेखा गुप्ता द्वारा लिखी कविताओं की प्रदर्शनी लगाई गई। इसके साथ अनोखे कलाकार भुवनश्री काबरा के वन लाइन आर्ट के चित्रों का प्रदर्शन भी हुआ। इस कला में कागज पर से बिना कलम उठाए एक बार में ही कोई चित्र पूरा बनाया जाता है।

पेंटिंग और कविता की जुगलबंदी की प्रदर्शनी का उद्घाटन भी अनोखा रहा। उद्घाटन युवा शास्त्रीय गायक हुल्लास पुरोहित ने तुलसीदास रचित गणपति वंदना के गायन से हुआ। प्रदर्शनी का खूबसूरत संयोजन सचिव हिमांशु व्यास तथा संयुक्त सचिव श्रीमती नीलम अग्रवाल ने मिल कर किया। उन्होंने समिति के चौक में सद्यःस्फूर्त कला दीर्घा खड़ी कर दी जिसे देख कर हर कोई चकित रह गया।

प्रदर्शनी को देखने के लिए न केवल जाने-माने चिकित्सक तथा उच्च शिक्षा के शिक्षक, जिनमें कई डॉ. श्रीगोपाल काबरा तथा श्रीमती (डॉ.) विजया काबरा के सहकर्मी ही नहीं विद्यार्थी रह चुके थे आये थे बल्कि जयपुर नगर के प्रमुख अकादमिक लोग, लेखक, कवि और पत्रकार भी आए थे।❑

वाणी

न ही वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो।

- धम्मपद

वैर से वैर शांत नहीं होते, बल्कि अवैर से शांत होते हैं। यही सनातन धर्म है।

समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 1 पौष-माघ वि.सं. 2082 जनवरी, 2026 मूल्य : पचास रुपये

क्र म

वाणी

3. धम्मपद

संपादकीय

5. सीखे हुए को कैसे लागू करें यह बताने वाली शिक्षा की जरूरत

व्याख्यान

7. विचित्रहीनता का समय: बातें बहुत, मगर संवाद नहीं!
– अशोक वाजपेयी

श्रद्धांजलि

11. जाना और उससे पहले होना विनोद कुमार शुक्ल का
– बृजरतन जोशी

अध्ययन

13. समग्र विकास का पुरुषार्थिक मॉडल
– डॉ. आनन्द कश्यप

बापू की याद

14. बापू की याद: फिल्म गांधी
– बेन किंग्सली

17. सच्ची सुन्दरता मन की पवित्रता होती है
– महात्मा गांधी

18. शारीरिक श्रम से सेवा ही जीने का परवाना है
– वर्षा दास

20. साबरमती का संत जिसने किये कमाल
– दुर्गा प्रसाद अग्रवाल

लेख

23. मनुष्य के विचार ही वास्तविकता बनाते हैं
– ब्रायना वीस्ट

पुस्तक चर्चा

25. हवाओं की दस्तक : स्मृतियों के पन्ने
– अरूंधति

श्रद्धांजलि

27. भवानी शंकर व्यास विनोद' नहीं रहे

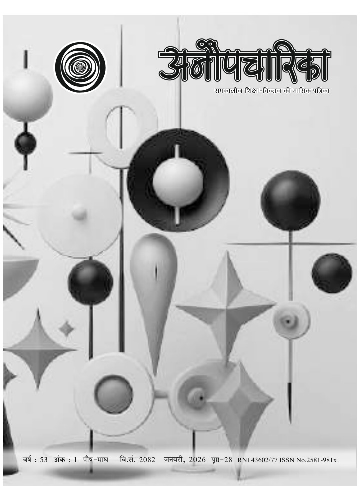

नव वर्ष की शुभकामनाएं
बापू को नमन

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति

7-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,

जयपुर-302004

फोन : 2700559, 2706709, 2707677

ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा

प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

सीखे हुए को कैसे लागू करें यह बताने वाली शिक्षा की जरूरत

पारंपरिक शिक्षा प्रणाली के साथ समस्या यह है कि विद्यार्थी को सिखाया जाता है कि उसे 'क्या करना है', मगर सीखे हुए को उसे 'कैसे लागू करना है' नहीं सिखाया जाता। पारंपरिक शिक्षा ने समाज को साक्षर और ज्ञानवान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, किंतु आज के जटिल और गतिशील युग में यह पर्याप्त नहीं है। अब ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो क्या करना है के साथ-साथ कैसे करना है भी सिखाए। मगर यह बात हमारी नित बदलती शिक्षा नीतियों में नहीं आती।

आज का समय तेजी से बदल रहा है। तकनीक, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचनाएं निरंतर रूपांतरित हो रही हैं। ऐसे में केवल किताबी ज्ञान की डिग्री से लैस व्यक्ति स्वयं को वास्तविक जीवन की चुनौतियों के सामने असहाय पाता है। इसीलिए यह प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक हो जाता है कि ऐसी शिक्षा कैसी हो जो क्या करना है के साथ-साथ कैसे करना है भी सिखाए? हम देखते हैं कि गणित के सूत्र, विज्ञान के नियम, अर्थशास्त्र के सिद्धांत और साहित्य के अर्थ, सब कुछ याद करा दिए जाते हैं, परंतु यह कम ही सिखाया जाता है कि इनका वास्तविक जीवन में उपयोग कैसे किया जाए?

हम विद्यालय में नागरिक शास्त्र में लोकतंत्र, अधिकार और कर्तव्यों के बारे में पढ़ाई करते हैं, परंतु एक जागरूक नागरिक बनकर इन मूल्यों को दैनिक जीवन में कैसे अपनाया जाए, इसकी व्यावहारिक शिक्षा कहां मिलती है! इसी प्रकार, वाणिज्य और अर्थशास्त्र पढ़ने वाला विद्यार्थी व्यापार और मुनाफे के सिद्धांत तो जानता है, परंतु एक छोटा व्यवसाय शुरू करने की व्यावहारिक प्रक्रियाजैसे जोखिम प्रबंधन, ग्राहक व्यवहार, या वित्तीय निर्णय से अनभिज्ञ ही रहता है।

आज की दुनिया में ज्ञान से अधिक कौशल की मांग है। कंपनियां, संस्थान और समाज ऐसे लोगों की तलाश में हैं जो समस्याओं का समाधान कर सकें, टीम में काम कर सकें, नवाचार कर सकें और बदलती परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढाल सकें। लेकिन पारंपरिक शिक्षा इन कौशलों को विकसित करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं देती। यह स्थिति एक ऐसी खाई को जन्म देती है जहां विद्यार्थियों के पास डिग्री तो होती है, परंतु वे रोजगार-योग्य नहीं होते। वे जानते हैं कि क्या सही है, पर यह नहीं जानते कि सही काम को व्यवहार में कैसे उतारा जाए। परिणामस्वरूप, शिक्षा और जीवन के बीच एक दूरी बनी रह जाती है।

इसीलिए माना जाता है कि आदर्श शिक्षा वह होनी चाहिए जो सिद्धांत और व्यवहार के बीच सेतु का काम करे। ऐसी शिक्षा में कक्षा केवल जानकारी देने का स्थान न होकर प्रयोग, चर्चा और अनुभव का केंद्र बनते है। कक्षा में विद्यार्थी केवल सुनने वाले नहीं, बल्कि सक्रिय भागीदार होते हैं।

ऐसी शिक्षा जो रचनात्मकता और आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा दे वह अनुप्रयोग-आधारित और अनुभवात्मक शिक्षा ही हो सकती है। नये समय की मांग यही है। कक्ष में सिर्फ शिक्षक का एकालाप न हो बल्कि साझी खोज हो। ऐसे शिक्षण में परियोजनाएं, केस-स्टडी, इंटर्नशिप, फील्डवर्क और सामुदायिक सहभागिता जैसे तत्व शामिल होंगे।

कैसे सिखाने वाली शिक्षा का अर्थ है: समस्याओं को पहचानना और उनका समाधान ढूंढना और ज्ञान को वास्तविक परिस्थितियों में लागू करना। इसका अर्थ असफलता से सीखना और पुनः प्रयास करना सीखना भी होता है।

जब विद्यार्थी किसी विषय को स्वयं करके सीखता है, तो उसका प्रभाव गहरा और स्थायी होता है। उदाहरण के लिए, पर्यावरण अध्ययन केवल किताबों में प्रदूषण के प्रकार पढ़ाने तक सीमित न रहे, बल्कि विद्यार्थियों को स्थानीय पर्यावरण समस्याओं का अध्ययन करने, समाधान सुझाने और उन्हें लागू करने का अवसर मिले। इसी प्रकार, उद्यमिता की शिक्षा केवल व्यापार योजनाओं के सिद्धांत तक सीमित न रहकर छोटे-छोटे स्टार्टअप प्रयोगों के माध्यम से दी जाए।

ऐसे शिक्षण के लिए शिक्षक की भूमिका में बदलाव पहली शर्त होगी। नयी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक की भूमिका को बदलना होगा। शिक्षक केवल लेक्चर देने वाला ज्ञान का स्रोत भर होकर न रह जाए, बल्कि वह विद्यार्थियों का मार्गदर्शक, मेंटर और प्रेरक बने। नई व्यवस्था में शिक्षक का काम विद्यार्थियों को पूर्व निर्धारित उत्तर देना सिखाना नहीं, बल्कि सही प्रश्न पूछना सिखाना होगा। जब शिक्षक और विद्यार्थी में खुला संवाद होगा तभी विद्यार्थी स्वतंत्र रूप से सोचने और प्रयोग करने का साहस कर सकेंगे।

कैसे सिखाने वाली शिक्षा केवल व्यावसायिक कौशल तक सीमित नहीं होनी होगी। इसमें नैतिकता, संवेदनशीलता, सहानुभूति और सामाजिक जिम्मेदारी जैसे मूल्य भी शामिल होंगे। जीवन में सफलता केवल आर्थिक उपलब्धि से नहीं मापी जा सकती; एक संतुलित, जिम्मेदार और मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए।

शिक्षा प्रणाली लोगों को स्वयं को खोजने और उनके सर्वोत्तम सीखने के तरीके को खोजने में मदद करने के लिए होनी चाहिए। विद्यार्थियों को यह नहीं सिखाया जाता कि कैसे सीखना है, और सीखने का सबसे अच्छा तरीका क्या है?

जब शिक्षा जीवन से जुड़ेगी, तभी विद्यार्थी केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले नहीं, बल्कि समस्याओं का समाधान करने वाले, समाज को दिशा देने वाले और भविष्य का निर्माण करने वाले बेहतर नागरिक बन सकेंगे। शिक्षा का यही वास्तविक अर्थ और उद्देश्य है। सिद्धांत और व्यवहार, ज्ञान और कौशल, तथा शिक्षा और जीवन इन सबके बीच की दूरी को पाटना ही आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।❑

विचित्रहीनता का समयः बातें बहुत, मगर संवाद नहीं!

अशोक वाजपेयी

जयपुर के पिंकसिटी प्रेस क्लब ने पीपल्स मीडिया थियेटर तथा राजस्थान साहित्य अकादमी के साथ मिल कर दिसंबर के दूसरे हफ्ते में अपने यहां तीन दिन का 'नेशनल लिटरेचर ड्रामा फेस्टिवल' किया, जिसमें व्यावसायिकता से दूर विभिन्न सत्रों में पत्रकारों, लेखकों और कलाकारों के बीच अंतरंग संवाद हुए। इन्हीं आयोजनों में एक सत्र में कवि, समीक्षक, चिंतक अशोक वाजपेयी ने सवालों की शैली में महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया। उसे यहां किंचित संपादित रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। सं.

मैंने सोचा कि आपसे संस्कृति के संदर्भ में वर्तमान स्थिति की कुछ बात करूं। साहित्य, रंगमंच, ललित कलाओं, शास्त्रीय कलाओं के बारे में। इनमें ज्यादातर प्रश्न हैं और उनमें कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं जिनमें उत्तर अपने-आप ही छिपे हैं।

उत्तर देने वाले आजकल बहुत हो गए है, प्रश्न पूछने वाले कम हैं। किसको उत्तर दे रहे हैं, यह पता नहीं लेकिन उत्तर देते रहते हैं। तो मैं प्रश्न उठाउंगा और कभी-कभी कुछ उत्तर भी दूंगा।

इस वक्त हमारा समय अधिकता और अभाव का एक साथ है। एक तरह का आधिक्य फैल गया है। सभी कुछ 24 घंटे दृश्य है। अब आपके पास यह विकल्प ही नहीं रह गया है कि आप 24 घंटे दृश्यों का तमाशा न देखें। गालिब ने कहा था कि ''होता है शब-ओ-रोज़ तमाशा मेरे आगे! तो उनको कतई यह अंदाज नहीं था कि 21वीं सदी के 25 वर्ष पूरे होते-होते हिंदुस्तान में शब-ओ-रोज़ तमाशा होगा। पहले तमाशा करने वाले, तमाशा करने वाले ही कहलाते थे। अब वे राजनेता हैं, अभिनेता हैं, खिलाड़ी हैं, अपराधी हैं, पत्रकार हैं, तरह-तरह के लोग हैं। सबको तमाशा करना आ गया है। एक हुनर जो पहले कुछ लोगों के पास होता था वह बड़ा लोकतांत्रिक हो गया है, फैल गया है। अब न केवल निजी और सार्वजनिक का भेद खत्म हो गया है बल्कि अपने निजी को सार्वजनिक बनाने की होड़ लगी हुई है। कुछ तो खुद ही करते हैं अपने निजी को सार्वजनिक, और बाकी कुछ दूसरे माध्यम हैं जो आपके निजी को निजी नहीं रहने देते। संस्कृति सत्वहीन हो गई है, इतिहास तथ्य और साक्ष्यहीन हो गया है, परंपरा स्मृतिहीन हो गई है और धर्म अध्यात्महीन हो गया है। यह हमारे समय की एक विचित्रहीनता है। झूठ, घृणा, हिंसा और अत्याचार की एक आक्रामक संस्कृति पैदा हो गई है। नई बहादुरी यह है कि किसी निरपराध को घेरकर अगर पांच लोग यह कहें कि यह बोलो और अगर वह न बोले तो उसे मार दें तो यह नई बहादुरी है।

बड़ा विचित्र है कि सारे समय लोग लगातार बात कर रहे हैं, फिर भी संवाद नहीं हो रहा। शिष्टाचार, नम्रता और सौजन्य से अब हमारा कोई नाता नहीं रहा। अब जो लोग शिष्टाचार बरतते है, पत्राचार करते हैं वे थोड़े अजूबे जैसे नज़र आते हैं, क्योंकि अब तो गाली-गलौच, झगड़ा-झांसा, लांछन की संस्कृति है। इस समय तो हिन्दी दृश्य माध्यमों पर झूठ, नफरत, गाली-

गलौच, लांछन की राजभाषा बन गई हैं। विचार, ज्ञान और असहमति के अपमान की एक नई संस्कृति विकसित हो गई है, कोई भी कुछ भी कह सकता है। संस्कृति के सबसे सृजनात्मक रूपओं – साहित्य और कलाओं – की उपेक्षा और अवहेलना की भी एक संस्कृति विकसित हो गई है।

अब मैं प्रश्न पूछना शुरू करूंगा। ये असल में खुद से प्रश्न हैं। लोकतांत्रिक संकुचन, ज्ञान की अवज्ञा, झूठ के निज़ाम, हिंसा, हत्या, अन्याय की दैनिकता के ऐसे समय में क्या साहित्य सच बोलने की चेष्ठा कर रहा है? लेखक ज्यादातर निष्क्रिय और चुप क्यों हैं? क्या अंतःकरणहीन होते जाते समाज में साहित्य अंतःकरण सजग बना हुआ है? राजनीति के हर क्षेत्र में घुसपैठिया होने के भयाक्रांत माहौल में क्या साहित्य जीवन की अदम्य बहुलता, अपार विविधता को निर्भय होकर दर्ज कर पा रहा है? क्या संयोजित विस्मृति के समय में साहित्य मुक्तिबोध की उस उक्ति को याद कर रहा है, याद दिला रहा है, याद को बचा रहा है कि साहित्य आत्मा का गुप्तचर है और यह गुप्तचरी दोहरी है, आत्मा की ओर से गुप्तचरी और खुद आत्मा की गुप्तचरी? क्या सफलता की अंधी दौड़ के परिवेश में साहित्य में सार्थकता और विफलता की जगह अब भी बची है? आप यह न भूलें कि संसार को बदलने वाले, साहित्य का बदलने वाले बहुत सारे लेखक और दूसरे अनुशासनों के लोग अपने समय में विफल थे लेकिन उनकी उस विफलता ने ही उनको एक नए किस्म की सार्थकता दी थी। क्या साहित्य अपने नाम, अपने साहित्य होने के स्वभाव के अनुरूप आज सत्याग्रह कर रहा है? क्या उसे सविनय अवज्ञा कहा जा सकता है? क्या वह असहयोग है? क्या आज सच्चे और ईमानदार साहित्य की नियति अपने समय और समाज के विरोध में खड़े होना है? ऐसे अवसर इतिहास में कम आते हैं जब साहित्य अपने ही समय और अपने ही समाज के विरुद्ध खड़ा हो। और मेरी यह समझ है कि इस समय ऐसा ही समय है। इस समय सच्चा साहित्य अपने समाज और समय के विरोध में ही हो सकता है। क्या आज साहित्य की जो चुप्पियां हैं वे कायर और अवसरवादी, चतुर और सुरक्षागामी हैं?

अब मैं तीन-चार चुप्पियों को जिक्र करूंगा। मुल्क के बंटवारे के बाद बड़ी संख्या में मुसलमान पाकिस्तान गए। वे अधिकांश उत्तर भारत से गए। इनमें से बहुत सारे कोई छोटे-मोटे कामकाजी लोग नहीं थे। बहुत सारे लोग हुनरमंद थे, वकील थे, लेखक थे, अध्यापक थे इत्यादि-इत्यादि। इनके जाने से हिंदी समाज में एक सामाजिक अनुपस्थिति का माहौल बना होगा। मैं आपको एक किस्सा बताता हूं। एक थे मजनूं गोरखपुरी। वे फिराक गोरखपुरी के मित्र थे और उर्दू के बड़े नामवर अदीब थे। वे बंटवारे के बाद पाकिस्तान चले गए और कराची में रहने लगे। एक बार फिराक साहब ने उनसे दरियाफ्त किया कि कुछ तो बताओ वहां का क्या हाल है? तो उन्होंने कहा कि यहां वैसे तो सब ठीक है, लेकिन मुसलमान बहुत है। क्योंकि वे उत्तर भारत के इस हिंदी समाज से गये थे तो उनको तो वहां लग रहा था कि वहां मुसलमान बहुत हैं। हमको क्यों नहीं लगा कि यहां मुसलमान बहुत कम रह गये हैं, साहित्य में इसको लेकर चुप्पी क्यों हैं? दूसरा, गुजरात में 2002 में दंगे हुए जिसमें कम से कम 2000 लोगों का नृसंहार हुआ। गुजराती साहित्य में इन दंगों को लेकर

चुप्पी क्यों है? तीसरा, कश्मीर से पंडितों का पलायन हुआ और कश्मीरी पंडित वहां के समाज के बहुत महत्वपूर्ण अंग थे, तो कश्मीरी साहित्य में पंडितों के पलायन को लेकर चुप्पी क्यों है? हमें इन चुप्पियों को सीधा देख सकना चाहिए। साहित्य की जो संरचनाएं है, साहित्य की संस्थाएं है। अकादमियां है, हिंदी विभाग हैं, हिंदी अध्यापक हैं, लेखक संघ है। इनके क्या हालात हैं? ये क्या कर रहे हैं? क्या इनमें इतनी भी हिम्मत नहीं बची है कि अपनी भाषा और अपने साहित्य के विकृतिकरण के विरुद्ध आवाज उठा सकें, सच्चे साहित्य को स्थापित और प्रतिष्ठित कर सकें? इस वातावरण में इनके सामूहिक कर्म की क्या भूमिका है? वह इतनी कम क्यों हैं?

रंगमंच में क्या हो रहा है? उसे सार्वजनिक वित्तीय समर्थन संकीर्ण और संकुचित हो गया है। मुझे बताया किसी ने कि अब तो वे कहते हैं कि पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर नाटक करें तो ही सरकारी अनुदान मिलेगा। क्या रंगमंच अपनी निर्भीक प्रश्नवाचकता खोने जा रहा है? क्या रंगमंच के छोटे समूहों ने अक्सर छोटे शहरों में अभाव की रणनीति बनाकर रंगकर्मीय साहस, प्रश्नांकन, नवाचार, कल्पना आदि को

सजीव रखा है? परंपरा की भयानक दुर्व्याख्या के समय में क्या रंगमंच परंपरा के जीवन तत्वों, उसके अंतर्विरोधों और विडंबनाओं, उसकी उदात्तता और अतिचारों, संभावनाओं का अन्वेषण कर पा रहा है? परंपरा की दुर्व्याख्या ऐसे लोग कर रहे हैं जिनको न तो परंपरा की समझ है और न परंपरा से उनका कोई संबंध है। क्या हम यह कह सकते हैं कि रंगमंच आज असहमति, बहुलता, प्रश्नांकन और नैतिक निर्भयता का मंच है?

शास्त्रीय कलाओं को लें। शास्त्रीय कलाओं में इस समय पठार समय है। आप सोचिये कि 21वीं सदी के 25 वर्ष बीतने को हैं और इस दौरान एक भी संगीतकार या नृत्यकार ऐसा नहीं उभरा है जिसको हम मूर्धन्य कह सकें। 20वीं सदी का उतरार्ध तो अद्भुत है कि उसमें इन कलाओं में इतने मूर्धन्य थे। लेकिन ऐसा क्या हुआ है कि धीरे-धीरे एक मीडियोक्रिटि छा गई। शास्त्रीय कलाओं को भी तमाशे में खटा दिया गया है। ये शास्त्रीय कलाएं अपने मूल में एकवचन कलाएं हैं। ये एक व्यक्ति की कल्पनाशीलता, उसके कौशल और उसकी अभिनय क्षमता और उसके शरीर की संभावनाओं पर एकाग्र होती हैं। अब सबको सामूहिकता के बाड़े में धकेला जा रहा है और किसलिए कि गिनिज बुक ऑफ रिकॉर्ड में दर्ज हो जाएं। नवाचार, परंपरा का पुनर्विस्तार, सूक्ष्मता, जटिलता, इसकी साधना और तप की अभिव्यक्ति शिथिल हो रहे हैं। गुरु-शिष्य परंपरा थी। हमने संगीत के बहुत से महाविद्यालय बनाए, विश्वविद्यालयों में संगीत-नृत्य विभाग खोले। इनमें से किसी ने भी एक श्रेष्ठ कलाकार पिछले सौ वर्ष में पैदा नहीं किया। सारे बड़े कलाकार गुरु-शिष्य परंपरा से आये। आज भी किसी कलाकार को अपने पहचान बनानी हो तो उसे यह बताना होगा कि किस गुरु से सीखा है। इससे नहीं चलेगा कि आपने इंदिरा कला संगीत महाविश्वविद्यालय से सीखा है। इसका कोई अर्थ नहीं है।

यह एक अजब स्थिति है कि शास्त्रीय कलाएं बिना विचार और बिना आलोचना के विकसित हो रही है। इनके मर्म को, इनके कौशल को, इनकी कल्पनाशक्ति इत्यादि की व्याख्या करने वाली आलोचना नहीं है। ललित कला के क्षेत्र में सार्वजनिक कला संस्थानों की क्या हालत है? केन्द्रीय और राज्य अकादमियां सिरे से अपना वज़ूद खोये बैठी हैं। ललित कलाओं को पूरी तरह से बाज़ार की ओर धकेल दिया गया है। ललित कला अब कला कम, डिजाइन ज्यादा नजर आती है। एक तरह की डिजाइन जो बहुत अच्छी है लेकिन उसमें कोई कलात्मक अर्थ या आशय या गहराई या सघनता दिखाई नहीं देती। ललित कलाओं पर जो भी लिखा जाता है उसमें आलोचना नहीं होती, विश्लेषण होता हैं। महिमा मंडन नहीं करते हैं लेकिन कोई कमी, खराबी या गड़बड़ है तो नहीं बताते हैं क्योंकि आपको लिखने का पैसा दिया गया है। एक विचित्र अनैतिक किस्म का माहौल बन गया है।

अभी हमने युवा कला आलोचकों के साथ संवाद किया। बीस-बाइस लोग बुलाए। मुझे देखकर हैरत हुई कि सारी आलोचना अंग्रेजी में है। उनमें से किसी को भी भारतीय कला चिंतन की याद तक नहीं थी, जैसे कि

हमने कलाओं पर कोई चिंतन किया ही नहीं। भारत में संगीत पर, भाषा पर, नाट्य पर इन सब पर जितना चिंतन हुआ है वह संभवतः किसी और सभ्यता में नहीं हुआ है। रोमन जेकबसन रोमानिया के थे, फ्रेंकफर्ट में पढ़े, फिर मास्को में पढ़े, फिर वे हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर ऑफ लिग्विस्टिक हो गए और अमेरिकन लिग्विस्टिक एसोसिएशन के अध्यक्ष भी बने। अपने पहले ही अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि अगर कोई व्यक्ति आज यह दावा करना चाहे कि उसने भाषा के बारे में कोई नया विचार, नई दृष्टि, नई स्थापना अर्जित की है, तो ऐसा दावा करने से पहले उसको इस बात की जांच कर लेनी चाहिए कि किसी भारतीय ने सदियों पहले इसको खोज तो नहीं रखा है। रोमन जैकबसन ने दूसरी बात कही कि भारत में कभी भी एक विचार का आधिपत्य नहीं हुआ। जैसे ही एक विचार आया, प्रतिविचार को भी विकसित करने की जगह मिली।

बहुत सारी महत्वपूर्ण कला अमूर्त है और यह विचित्र बात है कि उसको देखकर जो लोग चकराते है वे ध्रुपद के आलाप को सुनकर नहीं चकराते, वे शास्त्रीय संगीत में ताने सुनकर नहीं चकराते, जो कि अमूर्त होती हैं। लेकिन वे अमूर्त चित्र को देखकर चकराते है क्योंकि यह मान लिया गया है कि कला को किसी के बारे में होना चाहिए।

आजकल शहरों में पब्लिक आर्ट की बड़ी धूम है। सारी राजधानियों दिल्ली, जयपुर में भयानक कुरुचिपूर्ण, भदेश तरीके से – न आधुनिक, न लोक – नागरिकों के कला बोध को विकृत किया जा रहा है। कलाकर चुप ही नहीं बैठे हैं बल्कि उनमें से कुछ इस काम में हिस्सा लेकर सरकार से पैसा भी पाते होंगे। इस कदर भयानक कुरुचिपूर्ण कलाओं से हमारे शहर में खंभे अटे पड़े हैं। जिस तरह की कला हो रही है वह सच्ची, ईमानदार, नवाचारी और निर्भीक कला पर कीचड़ फेकने जैसा है और इसको आप रोज मग्नमन देख रहे हैं।

कई अर्थों में 20वीं शताब्दी कलाओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण रही है, लेकिन एक अर्थ में वह दुर्भाग्यपूर्ण भी है। आधुनिकता ने, खासकर पश्चिमी आधुनिकता, ने जो हस्तक्षेप किया है उससे संगीत और नृत्य तो शास्त्रीय हो गए और साहित्य, ललित कला और रंगमंच ये आधुनिक हो गये। 19वीं सदी में देखें तो रीति कला है, नेचर कला है। इन कलाओं के रचनाकारों का आपस में संवाद है। उनके कथानक, कथा, अभिप्राय, समय सब एक-दूसरे से बात करते है, एक जैसे है। 20वीं शताब्दी शुरू होते-होते इनके बीच अबोला हो गया और धीरे-धीरे अब यह हालत है कि रंगकर्मी को पता नहीं कि कविता में क्या हो रहा है, कवि को पता नहीं नृत्य में क्या हो रहा है, नृत्यकार को पता नहीं रंगमंच में क्या हो रहा है, रंगकर्मी को नहीं पता कि ललित कला में क्या हो रहा है और ललित कलाकार को नहीं पता कि और जगह क्या हो रहा है। एक परस्पर निर्भरता की भारतीय परंपरा थी उसको हमने ऐसे नष्ट होते जाने दिया है और हम निकटमन देखते रहे हैं कुछ करते नहीं।

मैं थोड़ा मीड़िया पर भी कहना चाहता हूं। मीडिया का जो बहुत बड़ा साधन सम्पन्न हिस्सा है वह सत्ताभक्ति में झूठ, नफरत, हिंसा, झूठी खबरें फैलाने में बहुत सक्रिय है। जैसे राजनीति ने संस्कृति को छोड़ दिया है वैसे ही मीडिया ने भी संस्कृति को छोड़ दिया है। दशकों तक इन कलाओं की आलोचना का मंच अखबार थे। अखबारों से ही रंगमंच की आलोचना, नृत्य की आलोचना, संगीत की आलोचना विकसित हुई। अखबार में आजकल जो अपराधों पर रिपोर्टर है वही शास्त्रीय संगीत सभा पर भी टिप्पणी करता है। अब जैसे राजनीति के लिए संस्कृति शोभा हो गई, वैसे अखबारों के लिए भी संस्कृति शोभा हो गई है। तस्वीर छाप देंगे बस। मीडिया ने चार नायक छवियां बनाई -राजनेता, अभिनेता, खिलाड़ी और अपराधी। और हम जैसे लोग प्रतिनायक छवियां बनाने में लगे रहे। ❑

जाना और उससे पहले होना विनोद कुमार शुक्ल का

बृजरतन जोशी

हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार विनोद कुमार शुक्ल का मंगलवार, 23 दिसंबर को निधन हो गया। वे 88 साल के थे। इस महीने की शुरुआत से ही वह रायपुर के एम्स अस्पताल में भर्ती थे। यहीं उन्होंने आखिरी सांस ली। उन्हें बीते महीने ही हिंदी साहित्य के सर्वोच्च सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। उनके उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी दिया गया था। लेखक-समीक्षक बृजरतन जोशी उन्हें श्रद्धांजलि दे रहे हैं। साथ के विनोद शुक्ल के चित्र ओम थानवी के खींचे हुए हैं। सं.

आज हिंदी परिसर अवाक् है। विनोद कुमार शुक्ल का जाना हिंदी साहित्य परिसर से उस दुर्लभ नैतिक स्वभाव की विदाई है, जो शोर, प्रचार और सत्ता की संगत से लगातार बचता रहा।

उनके लिए लेखन जीवन की स्वाभाविक श्वास प्रश्वास थी। अपनी तरह के इस विरल लेखक ने साहित्य की राजनीति से अपने लिए कभी कोई जगह नहीं मांगी, न विचारधाराओं की घेराबंदी को अपनी पहचान बनने दिया। वे बस लिखते रहे, चुपचाप लिखते रहे और निरंतर लिखते रहे और सबके लिए लिखते रहे। इस तरह उनका लेखन धीरे-धीरे वैश्विक संवेदना का प्रमाण बनता चला गया।

साहित्य परिवार में उनकी सबसे बड़ी उपस्थिति शायद यही थी कि वे अनुपस्थित रहकर भी उपस्थित थे। न गोष्ठियां, न मंच, न पुरस्कार-प्रबंधन, न सोशल मीडिया का शोर।

अलग मुहावरा, अलग शैली और कहने की अलग किन्तु मर्म को छू जाने वाली आकृति। राजस्थानी के मुहावरे में कहूं, तो वे हिंदी साहित्य की फड़दी थे।

आज के समय में यह लगभग असंभव-सा लगता है कि कोई लेखक केवल अपनी भाषा और शब्दों के भरोसे, बिना किसी प्रचार तंत्र के, इतने गहरे और स्थायी ढंग से पाठक के भीतर अपनी जगह बना ले। विनोद कुमार शुक्ल इस असंभव संभावना को सहज साकार करने में कामयाब रहे रचनाकार थे।

उनके पास कोई ट्रॉल सेना नहीं थी जो उन्हें ऊपर चढ़ाए या नीचे गिराए।

तमाम तरह की उठापटक से बाहर, अपने साधारण से किंतु शांत कमरे में बैठे, मनुष्य, प्रकृति और जीवन की महीन रेखाओं को देख रहे थे।

उनकी कविता और गद्य में जो करुणा है, वह न तो भावुकता है और न ही दया का प्रदर्शन। वह करुणा है जो चीज़ों को उनके पूरे अस्तित्व के साथ स्वीकार करती है। एक साधारण घर, एक पेड़, एक आदमी का अकेलापन, एक स्त्री की चुप्पी, एक बच्चे की दृष्टि ‐ सब कुछ उनके यहां इतना स्पष्ट, इतना पारदर्शी हो जाता है कि मानो पाठक अपने जाने पहचाने संसार को किसी नवीन दुनिया की तरह देख रहा हो। यह देखने दिखाने की कला बहुत कम लेखकों के पास होती है। और यह कला किसी विचारधारा से नहीं, बल्कि गहरे मानवीय अनुशासन से आती है।

उनका जीवन स्वयं एक मौन प्रतिरोध था, उस समय के विरुद्ध जब लेखक को लगातार दिखते रहना होता है, बोलते रहना होता है, प्रतिक्रिया देते रहना होता है।

विनोद कुमार शुक्ल ने न दिखकर, न बोलकर, केवल लिखकर यह बताया कि साहित्य की सबसे बड़ी ताकत उसकी चुप्पी भी हो सकती है।

प्रशासनिक दबावों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और साहित्यिक अवसरवाद से दूरी बनाकर उन्होंने अपने लेखन को सुरक्षित रखा। यही कारण है कि उनका लेखन समय के साथ और प्रासंगिक होता गया, कभी पुराना नहीं पड़ा।

उनके न रहने पर जो शून्य बनता है, उसे किसी पद या संस्था से नहीं भरा जा सकता। वह शून्य उस भरोसे का है कि साहित्य अभी भी बिना शोर के जिया जा सकता है। उनका जाना हमें यह याद दिलाता है कि सच्चा लेखक वही है जो अपने समय की आवाज़ बनने के लिए समय से सौदेबाज़ी न करे बल्कि संगत करे ।

विनोद कुमार शुक्ल का जाना एक गहरी, शांत उदासी हैऐसी उदासी जो रोती नहीं, बस देर तक बैठी रहती है, और हमें भीतर से थोड़ा और मानवीय बना जाती है। ❑

जो मेरे घर कभी नहीं आएंगे
मैं उनसे मिलने
उनके पास चला जाऊंगा।
एक उफनती नदी कभी नहीं
आएगी मेरे घर
नदी जैसे लोगों से मिलने
नदी किनारे जाऊंगा
कुछ तैरूंगा और डूब जाऊंगा
पहाड़, टीले, चट्टानें, तालाब
असंख्य पेड़ खेत
कभी नहीं आयेंगे मेरे घर
खेत खलिहानों जैसे लोगों से
मिलने
गांव-गांव, जंगल-गलियां
जाऊंगा।
जो लगातार काम से लगे हैं
मैं फुरसत से नहीं
उनसे एक जरूरी काम की तरह
मिलता रहूंगा।
इसे मैं अकेली आखिरी इच्छा
की तरह सबसे पहली इच्छा
रखना चाहूंगा।

जो कुछ अपरिचित हैं
वे भी मेरे आत्मीय हैं
मैं उन्हें नहीं जानता
जो मेरे आत्मीय हैं।
कितने लोगों,
पहाड़ों, जंगलों, पेड़ों,
वनस्पतियों को
तितलियों, पक्षियों, जीव-जंतु
समुद्र और नक्षत्रों को
मैं नहीं जानता धरती को
मुझे यह भी नहीं मालूम
कि मैं कितनों को नहीं जानता।
सब अत्मीय हैं
सब जान लिए जाएँगे मनुष्यों से
मैं मनुष्य को जानता हूँ।

अध्ययन

समग्र विकास का पुरुषार्थिक मॉडल

❑

❑

डॉ. आनंद कश्यप

हमने एक समग्र विकास के पुरुषार्थ मॉडल की परिकल्पना की है।

टेक्नोलॉजी की तेज़ रफ़्तार, उपभोक्तावादी मूल्यों और लगातार प्रतिस्पर्धा वाली दुनिया में, मानवता अपने वज़ूद के संकट का सामना कर रही है। आर्थिक विकास तो हुआ है, लेकिन मन की शांति, सामाजिक सद्भाव और पारिस्थितिक स्थिरता बिगड़ रही है। फिर से संतुलन स्थापित करते हुए यह मॉडल इस बात पर ज़ोर देता है कि बाहरी प्रगति को स्वाभाविक रूप से आंतरिक विकास, नैतिक नींव और सांस्कृतिक परिष्कार से जोड़ा जाना चाहिए। कालातीत भारतीय दार्शनिक परंपरा में निहित होते हुए भी यह मॉडल आधुनिक सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करता है, और शांति और समृद्धि के लिए एक एकीकृत दृष्टिकोण प्रदान करता है।

भारत की शास्त्रीय सभ्यता ने इंसानी जीवन को भौतिक, नैतिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक आयामों के लगातार जुड़ाव के रूप में देखा। इस समग्र सोच ने ही पुरुषार्थ सिद्धांत को आकार दिया, जिसमें धर्म (नैतिक कर्तव्य), अर्थ (आर्थिक भलाई), काम (भावनात्मक और रचनात्मक संतुष्टि) और मोक्ष (आंतरिक मुक्ति) शामिल हैं।

आधुनिक समाज अर्थ और काम – आर्थिक विकास और इंद्रियों की संतुष्टि – को ज़्यादा महत्व देते हैं, जबकि पुरुषार्थ मॉडल स्थायी विकास के लिए धर्म और मोक्ष के महत्व को मौलिक रूप से बहाल करता है। मॉडल में इन्हें सिर्फ आध्यात्मिक आदर्शों के रूप में नहीं, बल्कि मानवशास्त्रीय और विकासात्मक श्रेणियों के रूप में फिर से समझाया गया हैं।

इंसानी ज़िंदगी दो बुनियादी तरीकों से चलती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति का मतलब है बाहरी काम, गतिविधि, उत्पादन, नवाचार। सामाजिक जीवन और आर्थिक तरक्की को बनाए रखने के लिए यह ज़रूरी है। निवृत्ति का मतलब है अंदरूनीपन – सोच-विचार, ध्यान, शांति, आत्म-जागरूकता।

आधुनिकता प्रवृत्ति को बहुत ज़्यादा बढ़ावा देती है, जिससे तनाव, बेचैनी और ज़िंदगी का मकसद खत्म हो जाता है। पुरुषार्थ मॉडल इस बात पर ज़ोर देता है कि निवृत्ति ज़िंदगी से भागना नहीं है, बल्कि एक रचनात्मक स्रोत है जिससे समझ, करुणा और तालमेल पैदा होता है। एक संतुलित समाज को इन दोनों धाराओं को बढ़ावा देना चाहिए, ताकि इंसान स्पष्टता और अंदरूनी स्थिरता के साथ काम कर सकें।

हम एक रचनात्मक समाज की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, जो सामाजिक विकास का एक उच्च चरण है। एक क्रिएटिव सोसाइटी की पहचान सांस्कृतिक परिष्कार, नैतिक संवेदनशीलता और आंतरिक शांति से होती है। लोग ज़बरदस्ती या आर्थिक ज़रूरत से नहीं, बल्कि आंतरिक ज़िम्मेदारी और रचनात्मक जुड़ाव की भावना से भाग लेते हैं। इस बदलाव के लिए शैक्षिक सुधार और सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों की ज़रूरत है।

पुरुषार्थिक मॉडल शासन में यह नैतिक नेतृत्व, पारदर्शिता और सांस्कृतिक संवेदनशीलता पर आधारित नीतियों की वकालत करता है। आर्थिक आयोजना में यह ऐसे सस्टेनेबल मॉडल को बढ़ावा देता है जो सिर्फ जीडीपी ग्रोथ नहीं, बल्कि इकोलॉजिकल बैलेंस और इंसानी भलाई का भी ध्यान रखता हैं। ये मॉडल आज की दुनिया की चुनौतियों से निपटने की क्षमता को दिखाता हैं।❑

बापू की याद : फिल्म गांधी

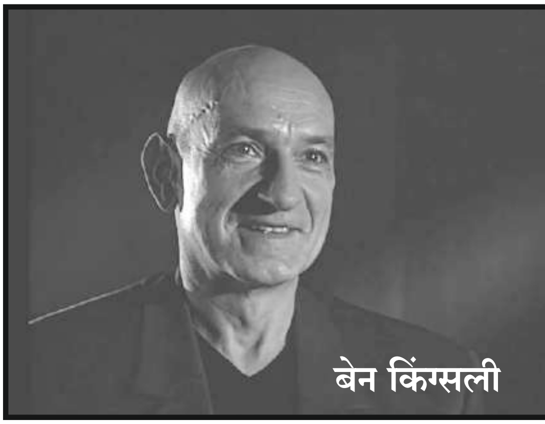
बेन किंग्सली

रिलीज़ होने के 40 से अधिक साल बाद भी आज रिचर्ड एटनबरो की फिल्म 'गांधी' न केवल विश्व सिनेमा इतिहास में अपनी जगह बनाए हुए है बल्कि बापू के चरित्र को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने का वह काम करती है जो दर्जनों किताबें न कर पा सके। इतने बरसों बाद इस फिल्म के निर्माण के बारे में याद कर रहे हैं फिल्म में गांधी की भूमिका करने वाले अभिनेता बेन किंग्सली।

यदि आपको महाकाव्य की समझ नहीं है, यदि आपको अपने चरित्र के ऐतिहासिक परिणामों की समझ नहीं है तो मुझे नहीं लगता कि आप ऐसी भूमिका निभाने योग्य हो पाते हैं। इस किरदार की रीढ़ ही वह जगह है जहां से फिल्म शुरू होती है। युवाओं को ट्रेनों से मत फेंको. इसका उल्टा असर होगा।

भगवान का शुक्र है कि न्यूज़रील फुटेज पर गांधी को रिकॉर्ड किया हुआ मिलता है। जब भी कोई उन्हें देखता है, तो देखने वाले पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मुझ पर भी प्रभाव पड़ा। मैंने इन फूटेज को देखा, एक बार में देखा। पांच घंटे की न्यूज़रील फुटेज थी। मैं पूरी तरह आश्वस्त होकर सिनेमा से निकला कि यह असंभव है। लेकिन अगले कुछ हफ़्तों में, जाहिर तौर पर मैंने उस चरित्र को अपना लिया। मेरे अंदर का वह छोटा बच्चा जाग उठा जो स्कूल में बहुत शानदार नकल करता था और क्लास रूम को और मेरे परिवार के लिविंग रूम को लोगों की बेहद सटीक नकलें उतार कर मंत्रमुग्ध कर देता था।

जब मैं (फिल्म की शूटिंग के लिए) भारत पहुंचा तब मैं अपना वजन कम कर रहा था, अपनी त्वचा को सूर्य की धूप में तपा रहा था, और अपनी लाइनें याद कर रहा था।

मैं साउंडमैन साइमन काये (फिल्म के साउन्ड रेकॉरडिस्ट) के साथ दोपहर का भोजन कर रहा हूं। लेकिन हमने अभी तक शूटिंग शुरू नहीं की है। मुझे गांधीजी के एक भाषण की टेप रिकॉर्डिंग मिली। मैंने इस भाषण के कुछ वाक्यांश अपनी आवाज़ में रिकॉर्ड किए। मैंने उसे साइमन को सुनाया। सुन कर साइमन बोला ठीक है। आप देख रहे हैं बेन, आपको ऐसा ही बोलना है। मैंने कहा साइमन वह मैं ही हूं।

तस्वीरों देखने से लेकर टेप रिकॉर्डिंग सुनने तक, और किताबों के शोध से वह जानकारी नहीं मिल पाई जो उन लोगों ने मुझे दी थी जब वे मेरे पास आये, मुस्कुराते हुए और प्रणाम की मुद्रा में सिर हिलाते हुए। कभी-कभी तो लोग मेरे कपड़ों को, यहां तक कि मेरे पैरों को भी छूते थे। एक अभिनेता के रूप में मैं उस किरदार को जान रहा था

जिसे मैं फिल्म में निभा रहा था। आप इन अनुभवों के अलावा किसी अन्य तरीके से जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते।

हमने यह फिल्म बनाई जो संभवत: आखिरी वास्तविक महाकाव्य फिल्मों में से एक है। किसी भी दृश्य को डिजिटल तकनीक से नहीं किया गया था। किसी भी भीड़ को डिजिटल तकनीक से नहीं बनाया गया था।

ऐसे भी थे जो सहयोगात्मक नहीं थे। मगर अन्य भी थे जो असाधारण रूप से सहयोगी थे, जिनमें पंडित नेहरू की बेटी, इंदिरा गांधी जो उस समय प्रधान मंत्री थीं और उनके बेटे जो उस समय जीवित थे, शामिल थे। भयानक, अब सब चले गये।

मैं गांधी के एक पोते से मिला था। उन्होंने मेरे साथ लंच किया। उस

समय मैंने वृद्ध गांधी की तरह कपड़े पहन रखे थे क्योंकि लंच के तुरंत बाद शूटिंग थी जिसके लिए मैं पूरी तरह तैयार था। आप अन्दाज़ लगा सकते हैं, उनके बगल में बैठा मैं काफी नर्वस था। मैं कुछ मटर खा रहा था और वे मेरे कांटे से छिटके जा रहे थे। सच में मैं बहुत नर्वस था। और उन्होंने एक शब्द भी नहीं बोला। लंच खत्म होने के बाद, उन्होंने कहा, मैं सिर्फ यही कह सकता हूँ कि आपको अनदेखी शक्तियां गाइड कर रही हैं, और मैं आपके लिए शुभकामनाएं देता हूं। मुझे अनदेखी शक्तियां गाइड नहीं कर रही थीं। मैं अपना काम कर रहा था। हालांकि, यह उनकी उदारता थी।

कैंडिस बर्गेन

रिचर्ड ने फ़ोटो पत्रकार मारग्रेट बर्क-व्हाइट के किरदार के लिए अत्यंत गोरी और खूबसूरत कैंडिस बर्गेन को चुना। यह एक बहुत अच्छा विचार था। फिल्म देखने पर कुछ लोग तो थोड़े शर्मा भी रहे थे। वे इस बात को स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। बेशक महिलाएं गांधी में आकर्षण पाती थीं। सभी शक्तिशाली पुरुष आकर्षक होते हैं।

मैंने चरखे की रिक्वेस्ट नहीं की थी। यह स्क्रिप्ट में है। गांधी बैठे हुए चरखा चला रहे हैं। मैंने सोचा हे भगवान, बेन, यह मुश्किल है। तुम चरखा नहीं चला सकते। मगर अपने स्टंट खुद करना पसंद है। इसलिए मैंने

फैसला किया कि चरखा चलाने का यह स्टंट मैं खुद करना करूंगा। मेरे लिए यह अविश्वसनीय रूप से मुश्किल था – एक ही समय में चरखा चलाना और बात करना।

मार्टिन शीन और मैंने एक्टर के तौर पर अपने जीवन के सबसे महान पलों को साझा किया, दीवार पर बैठकर उस जगह के बारे में बात करना जहां मेरा जन्म हुआ था, और नमक मार्च का विचार आना। हमें उस सीन का कई बार आनंद लेने का शानदार मौका मिला। हम उन संवादों से इतने वाकिफ़ थे मार्टिन ने कहा, मैं उस सीन में इतना खो गया था कि मैं भूल गया कि तुम आगे क्या कहने वाले हो। मुझे यह तभी याद आया जब तुमने पूरा किया और मेरे डायलॉग मेरे मुंह से स्वतः निकल पड़े। मुझे लगता है कि वह यह कहने की कोशिश कर रहा था कि यह बेहतरीन फ़िल्म एक्टिंग थी, जिसमें कोई मेहनत नहीं लगी। यही कमाल था।

मार्टिन शीन

जॉन गिलगुड एक नेशनल ट्रेजर थे। मुझे लगता है कि वह अब तक के उन सबसे महान अभिनेताओं में से थे जिनके साथ मैंने काम किया है। इस फिल्म में उन्होंने आज़ादी के विचार पर ही लॉर्ड इरविन के किरदार में इतनी नफ़रत और हैरानी दिखाई वह आश्चर्यचकित कर देने वाली है।

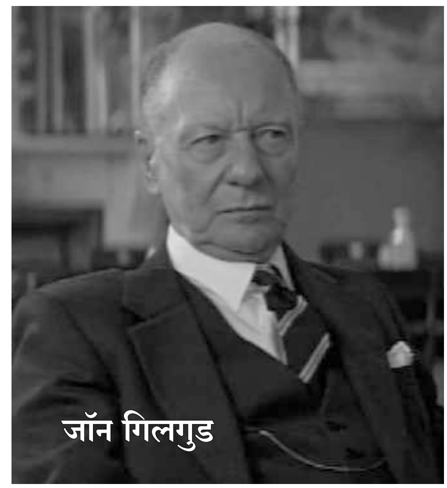
जॉन गिलगुड

महान ट्रेवर हॉवर्ड। हमारा कोर्टरूम में एक सीन था। जज के अदालत में आने पर कैदी खड़े होते है। लेकिन जज ब्रूमफील्ड वह उल्टा करते

ट्रेवर हॉवर्ड

हैं। कैदी द्वारा सामने उठने और खड़े होने की सामान्य रस्म को वे उलट देते हैं। वह कैदी के सामने खड़े होते हैं और उनके साथ पूरा कोर्टरूम खड़ा हो जाता था। यह सिनेमा का एक और महान पल था जो रिचर्ड से प्रेरित था लेकिन एक ऐसे अभिनेता ने खूबसूरती से निभाया,

जो स्क्रीन पर जबरदस्त दुनियादारी, ज्ञान, अधिकार और अपने साथी इंसानों के एक-दूसरे के प्रति व्यवहार से निराशा दर्शाता है।

जॉन मिल्स

जॉन मिल्स के साथ कॉन्फ्रेंस टेबल पर मेरे कुछ छोटे सीन थे। अंग्रेजी सेना, कूटनीतिक और राजनीतिक ऊंचाई की उस दीवार का उन्होंने कमाल का प्रदर्शन किया।

रोहिणी हट्टंगड़ी को उनकी पत्नी के रूप में कास्ट किया गया था। मैंने एक सहकलाकर के रूप में उन्हें बहुत मजबूत और दृढ़ एक्टर पाया। वह भारतीय स्वभाव को उसके सबसे अच्छे

रोहिणी हट्टंगड़ी

और सबसे बुरे रूप में समझने में मेरी मुख्य मदद करने वालों में से एक थीं। उन्होंने मुझे बहुत कुछ सिखाया।

रोहिणी, रोशन सेठ, और एलेक पद्मसी, खासकर बहुत बुद्धिमान लोग थे।

अंतिम संस्कार के सीन की शूटिंग करने से पहले, जो गांधी के अंतिम संस्कार की सालगिरह के करीब था, रिचर्ड ने मुझे मुख्य कैमरे के पास पुल पर आने का कहा। हमेशा एक कल्पना होती है ना कि हम अपने खुद के अंतिम संस्कार को देखें। महान मेकअप आर्टिस्ट टॉम स्मिथ, और मैंने मृत महात्मा गांधी के मोम के शव पर काम किया था। तो मैं सर रिचर्ड के साथ अंतिम संस्कार देखने के लिए तैयार था। मगर रिचर्ड ने कहा कि यह डमी ठीक नहीं लग रही है और क्या मैं सेट पर आकर झंडे के नीचे लेट सकता हूं? मैं झंडे के नीचे लेट गया। मैंने स्टीव लैनिंग (असिस्टेंट डायरेक्टर) से कहा, आस-पास कितने लोग हैं? अभी लॉरी के आस-पास कितने लोग हैं स्टीव? उसने कहा, लगभग 80,000 सर। इस तरफ। इस तरफ, ओह, और यहां कुल कितने लोग हैं? लगभग 400,000 सर।
शवयात्रा की शुरुआत में गुलाब की कलियाँ मेरे चेहरे पर फेंकी जा रही थीं। भारतीय बहुत शरारती होते हैं और वे मुझे परेशान करना चाहते थे ताकि वे सब हंस सकें और टेक खराब कर सकें। मैं हिला नहीं, पलक भी नहीं झपकाई। इसलिए उन्होंने जल्द ही ऐसा करना बंद कर दिया। फिर उन्होंने पंखुड़ियां फेंकना शुरू कर दिया। वे रोने लगे, फिर वे शांत हो गए। जहां मैं था, वहां से सामने सिर्फ़ सैनिकों के जूतों की आवाज़ सुनाई दे रही थी। ज़ाहिर है, जुलूस के उस हिस्से में उस दिन सिर्फ़ यही आवाज़ सुनाई दे रही थी। यह दृश्य उस असली दिन जैसा ही था। भीड़ सच में शांत हो गई थी।

शूटिंग पूरी करके जब हम गाड़ी से जा रहे थे, तो मेरी गाड़ी के ड्राइवर सरदारजी ने कहा, बहुत बढ़िया सर। बस इतना ही कहा। बहुत बढ़िया सर। लेकिन उनकी तरफ से यह बहुत बढ़िया था।❑

सच्ची सुंदरता मन की पवित्रता में होती है।

–महात्मा गांधी

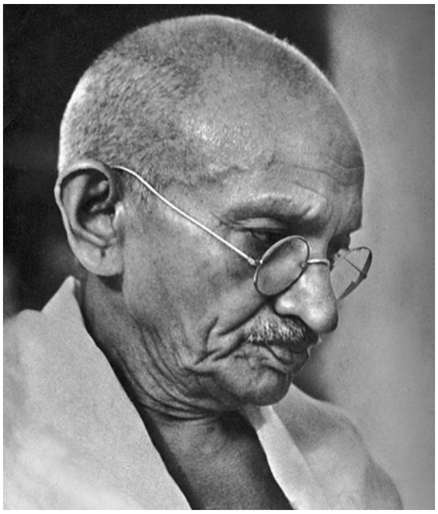

सच्ची कला आत्मा की अभिव्यक्ति होती हैं। बाहरी रूपों का मूल्य तभी तक है जब तक वे इंसान की अंदरूनी भावना की अभिव्यक्ति हैं। सभी सच्ची कलाओं को आत्मा को अपने अंदरूनी स्वरूप को समझने में मदद करनी चाहिए। मेरे अपने मामले में, मुझे लगता है कि मैं अपनी आत्मा की पहचान के लिए बाहरी रूपों के बिना भी पूरी तरह से काम चला सकता हूं। इसलिए, मैं दावा कर सकता हूँ कि मेरे जीवन में सच में कुशल कला है, भले ही आप मेरे आस-पास कला के काम न देखें।

मेरे कमरे की दीवारें खाली हो सकती हैं; और मैं छत के बिना भी रह सकता हूँ, ताकि मैं ऊपर फैले तारों वाले आसमान को देख सकूँ जो एक अंतहीन विस्तार में फैला हुआ है। इंसान की कौन सी सचेत कला मुझे वे मनोरम दृश्य दे सकती है, जो मेरे सामने खुलते हैं, जब मैं ऊपर आसमान की ओर देखता हूँ, जिसमें सभी चमकते तारे हैं? इसका मतलब यह नहीं है कि मैं आम तौर पर स्वीकार की जाने वाली कला की रचनाओं के मूल्य को स्वीकार करने से इनकार करता हूं, बल्कि सिर्फ इतना कि मुझे व्यक्तिगत रूप से लगता है कि प्रकृति में सुंदरता के शाश्वत प्रतीकों की तुलना में ये कितने अपर्याप्त हैं। इंसान की कला की इन रचनाओं का मूल्य तभी तक है जब तक वे आत्मा को आत्म-साक्षात्कार की ओर आगे बढ़ने में मदद करती हैं। मुझे ऐसी कला और साहित्य चाहिए जो लाखों लोगों से बात कर सके।

सच्ची कला सिर्फ़ रूप पर ही नहीं, बल्कि उसके पीछे क्या है, उस पर भी ध्यान देती है। एक कला ऐसी होती है जो मारती है और एक कला ऐसी होती है जो जीवन देती है... सच्ची कला अपने रचनाकारों की खुशी, संतोष और पवित्रता का सबूत होनी चाहिए। आखिरकार, सच्ची सुंदरता मन की पवित्रता में होती है।

मुझे संगीत और दूसरी सभी कलाएँ पसंद हैं, लेकिन मैं उन्हें उतना महत्व नहीं देता जितना आमतौर पर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, मैं उन गतिविधियों का महत्व नहीं समझ सकता जिनके लिए समझने के लिए तकनीकी ज्ञान की ज़रूरत होती है।

जीवन सभी कलाओं से बड़ा है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि जिस आदमी का जीवन पूर्णता के सबसे करीब होता है, वह सबसे बड़ा कलाकार होता है; क्योंकि एक नेक जीवन की पक्की नींव और ढाँचे के बिना कला क्या है?

हमने किसी तरह खुद को इस बात पर यकीन दिला लिया है कि कला निजी जीवन की पवित्रता से आज़ाद है। मैं अपने सभी अनुभव से कह सकता हूँ कि इससे ज़्यादा झूठ कुछ नहीं हो सकता। जैसे-जैसे मैं अपने सांसारिक जीवन के अंत के करीब पहुँच रहा हूँ, मैं कह सकता हूँ कि जीवन की पवित्रता, सबसे ऊँची और सच्ची कला है। एक सधी हुई आवाज़ से अच्छा संगीत बनाने की कला कई लोग हासिल कर सकते हैं, लेकिन एक पवित्र जीवन के सामंजस्य से वह संगीत बनाने की कला बहुत कम लोग हासिल कर पाते हैं। ❑

सच्ची कला सिर्फ़ रूप पर ही नहीं, बल्कि उसके पीछे क्या है, उस पर भी ध्यान देती है। एक कला ऐसी होती है जो मारती है और एक कला ऐसी होती है जो जीवन देती है... सच्ची कला अपने रचनाकारों की खुशी, संतोष और पवित्रता का सबूत होनी चाहिए। आखिरकार, सच्ची सुंदरता मन की पवित्रता में होती है।

शारीरिक-श्रम से सेवा ही जीने का परवाना है!

❑

वर्षा दास

राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय की निदेशक रह चुकी गांधी विचार की अध्येता वर्षा जी इस आलेख में बटा रही हैं कि महात्मा गांधी के लिए श्रम की कितनी महत्ता थी। सं.

❑

बापू ने 1928 के सितंबर महीने में 'यंग इंडिया' में लिखा: सेवा के लिए शरीर-श्रम की आवश्यकता है। सेवा के लिए जब कोई शरीर-श्रम करता है, तो उसे जीने का अधिकार प्राप्त होता है। अधिकारों की उत्पत्ति का सच्चा स्रोत है – कर्तव्यों का पालन! जीवन की आवश्यकताओं को पाने का मनुष्यों और पशु-पक्षियों को समां अधिकार है। मनुष्य के अधिकार कर्तव्यों से जुड़े हैं। कर्तव्य यह है कि हम अपने हाथ-पैरों से मेहनत करें।

गांधीजी को सभी बापू कहते थे। एक बार उनके हाथ में बहुत दर्द हो रहा था फिर भी वे कटाई कर रहे थे। बल्लभभाई पटेल ने कहा: देखिए न, पहले आपके अंगूठे में दर्द था। अब वह कोहनी तक पहुंच गया। कोहनी से कंधे तक पहुंच जाएगा। अब तो रहने दीजिए, बहुत कताई हो गई।

बापू बोले: एक दिन तो किसी के कंधे पर चढ़ना ही पड़ेगा ना!

सरदार ने कहा: अरे ऐसा नहीं हो सकता! देश को बीच में छोड़ कर आप नहीं जा सकते हो। मैं भी आपके साथ जाऊंगा।

एक बार वर्धा में तालीम लेने आये शिक्षक से गांधीजी ने बात की। वह उन्हें के शब्दों में: आप में से एक भाई ने मुझे खत लिखा था। उसमें यह शिकायत की गई थी कि यहां हाथ-पैर की मेहनत पर बहुत जोर दिया जाता है। मैं मानता हूं कि ऐसी मेहनत बुद्धि के विकास का अच्छे-से-अच्छा जरिया है। हमारे मौजूदा स्कूल और कॉलेज ब्रिटिश सल्तनत की ताकत को मजबूत बनाने के लिए हैं। आप में से जिन्होंने उनमें शिक्षा पाई, उन्हें वे जरूर अच्छे लगेंगे। उन विद्यार्थियों को कोई थोड़े ही पूछता है कि वे रास्तों और पाखानों की सफाई करना जानते हैं या नहीं? लेकिन यहां सफाई और स्वच्छता एक बुनियादी चीज की तरह सिखाई जाती है। भंगी के काम में कला तो है ही। 'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' यानी बार-बार पूछने में उद्धत्तता भी हो सकती है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने की चाह के साथ नम्रता की भी जरूरत रहती है। तभी बुद्धि के दरवाजे खुलते हैं।

उपयोगी शरीर-श्रम के जरिए हमारी बुद्धि का विकास होता है। बुद्धि तो इसके बिना भी बाढ़ सकती है, बिगाड़ होगा। उससे हम गुंडे भी बन सकते हैं। बुद्धि के साथ-साथ आत्मा और शरीर का भी विकास होना चाहिए। इसलिए यहां की तालीम में हाथ-पैर की मेहनत को खास जगह दी गई है। बुद्धि के साथ आत्मा का विकास होने पर ही बुद्धि का सदुपयोग होता है वर्ना बुद्धि हमें बुरे रास्ते की ओर लए जाती है

और ईश्वरीय देन के बदले, शाप बन जाती है। अगर आप इस चीज को समझ लेंगे, तो आपको भेजने वाली संस्थाएं आप पर जो खर्च कर रहें हैं, वह बेकार न जाएगा। आपने काम की आप शान बढ़ा सकेंगे।

शरीर-प्रेम के एक प्रवचन में गांधीजी ने कहा: रोटी के लिए हर मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिए। शरीर को, कमर को झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है। यस मूल खोज टॉल्सटॉय की नहीं है, लेकिन उनसे बहुत कम मशहूर रूसी लेखक टी. एम. बोन्दरेव्ह की है। टॉल्सटॉय ने उसे रोशन किया और अपनाया।

इस विचार को गांधीजी भगवद्गीता के तीसरे अध्याय से जोड़ते हैं। जो यज्ञ किए बिना खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ नहीं करने वालों को दिया गया है। यहां यज्ञ का अर्थ है जात-मेहनत या रोटी-मजदूरी! मेरी राय में यही मुमकिन है...जो मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का क्या हक़ है? बाइबल में कहा है: अपनी रोटी तू अपना पसीना बहा कर कमा और खा। दुनिया के 90 प्रतिशत से ज्यादा लोगों का निर्वाह खेती पर होता है। बाकी के 10 प्रतिशत लोग अगर इनकी नकल करें तो जगत में कितना सुख, कितनी शांति और कितनी तंदरुस्ती फैल जाए! और अगर खेती के साथ बुद्धि भी मिले तो खेती से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी मुसीबतें आसानी से दूर हो जाएगी। जात-मेहनत के निरपवाद कानून को सब मानें तो ऊंच-नीच का भेद मिट जाए।

मजदूरों के लिए निकाली जाने वाली एक पत्रिका में उन्होंने लिखा: हिंदुस्तान में एक धंधा (व्यवसाय) करने वाला आदमी, दूसरा धंधा करने में अपनी तौहीन मानता है। इसके सिवा, कुछ धंधे स्वयं ही हल्के माने जाते हैं। ये दोनों विचार गलत हैं। जो धंधा मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक है, उसमें ऊंच-नीच का भेद हो ही नहीं सकता। इसी तरह जो धंधा करना हम जानते हों, उससे भिन्न कोई धंधा करने में हमें शर्म नहीं माननी चाहिए। हम तो यह मानते हैं कि कपड़ा बुनना और पत्थर फोड़ना, लकड़ी चीरना अथवा लकड़ी फाड़ना या खेत में मजदूरी करना, यह सब आवश्यक और आदरणीय धंधे हैं।

मनुबेन गांधी ने नोआखली का एक प्रसंग लिखा है: नोआखली में रास्ते-पगडंडियां संकरी थी। कोई-कोई तो इतनी संकरी थी कि मुझे पीछे रख कर बापूजी अकेले ही पगडंडी पर चल पाते थे। उन्हें मेरा सहारा नहीं मिलता था तो सहारे के लिए उन्हें लाठी रखनी पड़ती थी। कहीं भी गंदगी हो, वह बापू को बहुत चुभती थी। इतने गंदे रास्ते पर उन्हें खुले पैर चलना पड़ता था। आसपास मैल। थूक, कचरा आदि पड़े थे। वे आसपास के पत्तों को लेकर उन्हें साफ करने लगे। मैं कुछ समय के लिए तो चौक ही गई, फिर मैंने गुस्से से कहा, बापूजी, आप मुझे क्यों शर्मिंदा कर रहे हैं? मैं यहां पीछे ही तो थी। फिर भी मुझे न कह कर आपने क्यों साफ किया?बापू हंसे और बोले, तुम कहाँ जानती हो कि ऐसे काम करने में मुझे कितनी कम परेशानी होती है। मैंने कहा गांव के लोग यह सब देख रहे हैं। बापू ने कहा, तुम देखना। कल से मुझे इतने गंदे रास्ते साफ नहीं करने पड़ेंगे। आज की देख कर वे भी सबक सीखेंगे कि ऐसा काम करना तुच्छ काम नहीं है। मैंने कहा। माँ लो कल के लिए इसे साफ रखें और बाद में जैसा था वैसा ही गंदा रकें, तो आप क्या करेंगे? जवाब में उन्होंने मुझे ही पकड़ा। मैं तुम्हें देखने के लिए भेजूंगा और रास्ता फिर से इतना गंदा होगा तो मैं साफ करने आऊंगा। सच में ऐसा ही हुआ। दूसरे दिन मैं देखने गई तो रास्ता गंदा था। बापू से न कह कर मैं ही उसे साफ करके लौटी। बापू से कहा, मैं रास्ता साफ कर आई। मेरे साथ गांव के लोग भी जुट गए थे। आज तो उन्होंने वचन भी दिया कि कल से आप नहीं आना, हम ही साफ करेंगे। बापू बोले तुमने मेरा पुण्य ले लिया। वह रास्ता मुझे ही साफ करना था। खैर, अब दो काम हुए: एक तो स्वच्छता बनी रहेगी और दूसरा, लोग दिए हुए वचन का पालन करेंगे तो सत्यता सीखेंगे। इसके बाद वह रास्ता हमेशा साफ रहा।

बापू कहते थे कि जीने के लिए अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिए, रहने के लिए घर भी चाहिए। यह सब परिश्रम के बिना प्राप्त नहीं होते। परिश्रम के लिए उचित उपकरण यानी औजार चाहिए। ये औजार भी मेहनत-मजदूरी के बिना तैयार नहीं होते। जीने का सब सामान मेहनत-मजदूरी से ही पैदा होता है। जीना है तो मेहनत मजदूरी की शर्त कबूल करनी ही चाहिए। शरीर-श्रम जीने का परवाना ही है।

गांधी ने हमें गरिमामय जीवन जीने की राह दिखाई है। उस राह पर एक व्यक्ति सौ कदम चले, उससे कहीं अच्छा है कि सौ व्यक्ति एक कदम आगे बढ़ें। यही तो है बिना भेदभाव का सुखी सह अस्तित्व। ❑

साबरमती का संत जिसने किये कमाल

❑

❑

दुर्गाप्रसाद अग्रवाल

लेखक समीक्षक दुर्गाप्रसाद अग्रवाल महात्मा गांधी के उन आदर्शों की बात कर रहे हैं जो सदियों तक मानवता का पाठ आलोकित करते रहेंगे। सं.

यह कहना तनिक भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पूरी दुनिया में भारत की पहचान गांधी के देश के रूप में है। सच तो यह है कि बहुतों के लिए भारत और महात्मा गांधी एक दूसरे के पर्याय हैं। अल्बर्ट आइंस्टीन ने 1931 में अपने एक पत्र में गांधी को लिखा था कि आपका कार्य मानवता के लिए एक अनमोल उदाहरण है। वे महात्मा गांधी के अहिंसक प्रतिरोध को बाद की पीढ़ियों के लिए प्रेरणादायी मानते थे। रूस के महान लेखक लियो टॉल्सटॉय और महात्मा गांधी एक दूसरे से प्रभावित थे। जहां इस महान रूसी लेखक की किताब 'द किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू' को बापू के अहिंसा दर्शन की प्रेरक माना जाता है वहीं यह भी एक तथ्य है कि गांधी के कामों ने टॉल्सटॉय को प्रभावित किया था। फ्रांस के रोमांरोलां तो गांधी से इतने ज्यादा प्रभावित थे कि उन्होंने बापू की जीवनी ही लिख डाली थी। जॉर्ज बर्नार्डशॉ ने अगर गांधी को 'महान आत्मा' कहा था तो अमेरिका के मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने अपनी किताब 'स्ट्राइड टु वर्ल्ड फ्रीडम' में गांधी के दर्शन को अपना मुख्य प्रेरणा स्रोत बताया था। वियतनाम के हो ची मिन्ह और दक्षिण अफ्रीका के नेल्सन मंडेला का गांधी जी के प्रति आदर भाव सर्वविदित है। म्यांमार की आंग सान सू की और पोलैंड के लेचवालेंसा ने खुलकर बापू के विचारों को सराहा है। इस बात की गिनती करना भी कठिन है कि दुनिया के कितने देशों ने बापू के सम्मान में डाक टिकट जारी किए हैं और कितने देशों में उनकी मूर्तियां लगायी गयी हैं। सन् 2019 में एक आरटीआई के जवाब में भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद ने बताया था कि दुनिया के 102 देशों में गांधीजी की मूर्तियां लगी हुई है। माना जा सकता है कि वास्तविक संख्या इससे ज़्यादा ही होगी। मुझे सबसे मार्मिक और ध्यानाकर्षक बात तो यह लगती है कि जिस ब्रिटिश शासन के

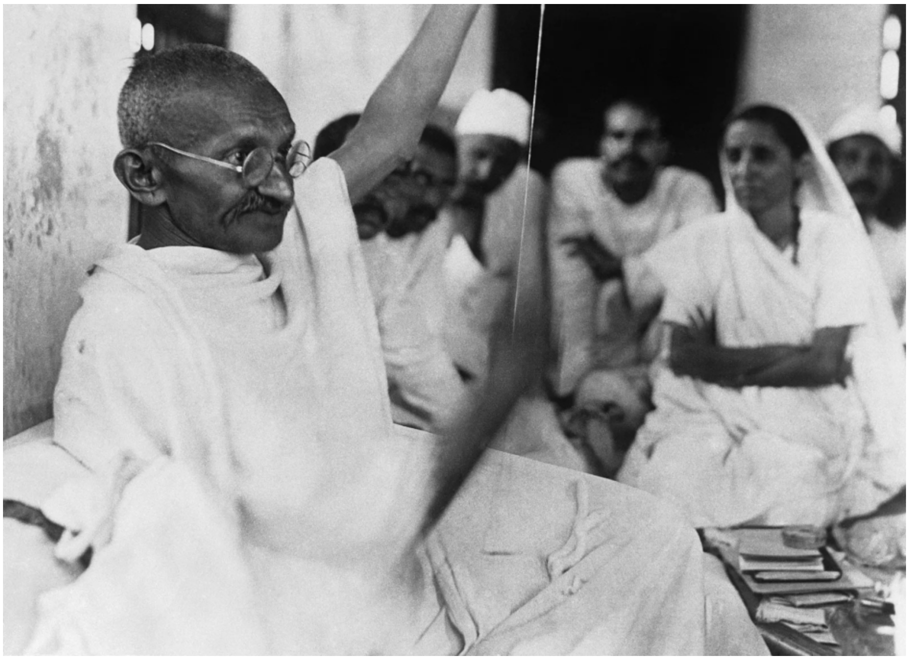

नियंत्रण सेभारत को आज़ाद करने के लिए बापू ने लंबा संघर्ष किया उसी के शहर लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर पर गांधीजी की मूर्ति स्थापित है। इसके अलावा लंदन के ही टैविस्टॉक स्क्वायर में भी बापू की एक प्रतिमा लगी हुई है। अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका में उनकी दो दर्जन से अधिक मूर्तियां लगी हुई है। ऐसे में यह उपयुक्त ही लगता है कि स्वयं उनका अपना देश उन्हें बापू के रूप में याद करता है और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता उन्हें 'राष्ट्रपिता' कह और मानकरव्यक्त करता है। वैसे यहां यह याद कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता की यह पदवी उं नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने दी थी जिन्हें आज के कुछ राजनीतिकर्मी गांधी और उनके विचारों के प्रतिपक्ष के रूप में प्रदर्शित करने के प्रयास अनवरत रूप से करते रहते हैं। तथ्य यह है कि छह जुलाई 1944 को नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने आज़ाद हिन्द रेडियो स्टेशन से प्रसारित अपने एक संदेश में भारत के स्वतंत्रता संग्राम में उनकी भूमिका की सराहना करते हुए गांधीजी को फादर ऑफ द नेशन कहा था। बाद में यही अभिव्यक्ति राष्ट्रपिता के रूप में लोक प्रचलित और स्वीकृत हुई। लेकिन यह बात कम विडंबनापूर्ण नहीं है कि सारी दुनिया में पूजे जाने वाले और अपने देश के भी अधिकांश लोगों द्वारा समादृत महात्मा गांधी को खुद उनके देश भारत में भी एक छोटे से समूह द्वारा निरंतर अपमानित किया जाता रहा है। यह सिलसिला अभी भी जारी है।

वैसे, वैचारिक असहमति न तो कोई नई बात है, न अप्रत्याशित और न ही अस्वीकार्य। गांधीजी के जीवनकाल में उनसे सबसे अधिक असहमति तो गरम दल वालों की ही रही, जो गांधी के अहिंसा और सत्याग्रह वाले तौर तरीकों से असहमत थे। इनके अलावा जाती संरचना और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर आंबेडकर की उनसे असहमतियां जग जाहिर हैं। लेकिन एक और समूह था जो अल्पसंख्यकों के प्रति उनकी सहानुभूतिपूर्ण और समन्वयवादी रुख से बहुत ज्यादा नाराज़ था। इस नाराज़गी की परिणिती हुई 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की हत्या से। अफसोस की बात यह कि शांति के इस पुजारी की हत्या करके भी इस समूह की नाराज़गी पर विराम नहीं लगा। इन लोगों के उत्तराधिकारियों ने जहां महात्मा गांधी की हत्या को वध कह कर अप्रत्यक्ष रूप से वैध और सम्मानित कृत्य बनाने के प्रयास जारी रखे, अन्य कईं मोर्चों पर भी ये लोग महात्मा गांधी के प्रति अपनी नाराज़गी का इज़हार करते रहे। ऐसा ही एक निंदनीय प्रयास किया गया मध्यप्रदेश के अलीराजपुर में एक तथाकथित साध्वी शकुन पाण्डेय ने जनवरी 2019 में एक कार्यक्रम आयोजित कर महात्मा गांधी की हत्या का एक प्रहसन प्रस्तुत किया। इस प्रहसन में गांधीजी के पुतले पर गोली चलायी गयी और गांधीजी कें हत्यारे नाथूराम गोडसे की तारीफ की गई। बात केवल इतने पर ही नहीं थमी। जब इस कृत्य की नींद हुई तो हिन्दू महासभा ने पूरी बेशर्मी से यह कहते हुए इस कृत्य का बचाव और समर्थन किया कि यह तो गांधीजी की मुस्लिम समर्थक और हिन्दू विरोधी नीतियों के प्रति उनका विरोध प्रदर्शन था। यह समझ पाना किसी के लिए भी नामुमकिन होगा कि कितनी ही असहमति क्यों न हो, कोई भी किसी की हत्या का समर्थन कैसे कर सकता है?

और जब एक समूह विशेष गांधीजी की हत्या तक को ग़लत नहीं मानता है तो यह इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि इस समूह के समर्थक जगह-जगह गांधीजी की

मूर्तियों को तोड़ते या विरूपित करते रहे हैं। इन्हें न सर्वधर्म समभाव अच्छा लगता है न ये गंगा जमुनी तहज़ीब को स्वीकार कर पाते हैं। इन्हें शांति और अहिंसा की बाते पसंद ही नहीं आती हैं। इस सोच वाले लोग आधुनिक तौर तरीकों का इस्तेमाल कर सोशल मीडिया पर गांधीजी के बारे में अनर्गल, अभद्र और कुत्सित मिथ्या बातें प्रसारिक करने के अभियान में जूते रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि नयी पीढ़ी के मन में गांधीजी की एक विकृत और अस्वीकार्य छवि ये लोग स्थापित करने में एक हद तक सफल हुए हैं। यही समूह कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष रूप से गांधीजी को राष्ट्रपिता कहने का भी विरोध करता है। यह बात सही है कि भारतीय संविधान में राष्ट्रपिता जैसा कोई पद नहीँ है। इसलिए इस पदवी की कोई संवैधानिक अस्मिता नहीं है। लेकिन अगर इस देश का जन–मानस महात्मा गांधी को यह मान देता है तो इसमें अनुचित भी कुछ नहीं है।

महात्मा गांधी का आधुनिक भारत के निर्माण में जो योगदान है और उन्होंने जिस संवेदनशीलता के साथ आधुनिक भारत की छवि को आकृति प्रदान की है वह अनुपम और अतुलनीय है। एक राष्ट्र के रूप में हम उनके चीर ऋणी हैं और इस ऋण के प्रति कृतज्ञता स्वरूप अगर हम उन्हें राष्ट्रपिता कह कर अपनी आदरांजलि प्रस्तुत करते हैं तो इससे किसी को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए। यहीं इस बात को भी समझा जाना चाहिए कि महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता कहना और मनना किसी भी तरह से अन्य स्वाधीनता सेनानियों का अपमान या अवमानना नहीं है। हर स्वाधीनता सेनानी ने, चाहे वह सरदार पटेल हों, चंद्रशेखर आज़ाद हों, सुभाष चंद्र बोस हों, भगत सिंह हों या लोकमान्य तिलक हों – कोई भी हो उसने अपनी–अपनी तरह से स्वाधीनता संग्राम को सफल बनाने में योगदान दिया है। महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता कह देने से इनमें से किसी का भी महत्व कम नहीं हो जाता है। और जहां तक इस उपाधि से या महात्मा गांधी के महत्व के स्वीकार से असहमति की बात है, असहमति तो लोकतंत्र का प्राण है। हम में से हरेक को सहमत होने का जितना अधिकार है उतना ही अधिकार असहमत होने का भी है। जो महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता न मानना चाहें वह न मानें, लेकिन जो मानना चाहते हैं उनसे वे यह उम्मीद क्यों करें कि वे भी उनकी तरह सोचने लगेंगे। जीवन में बहुत कुछ ऐसा होता है जो हमें पसंद नहीं होता। लेकिन हम उसके प्रति सहिष्णुता बरतते हैं।

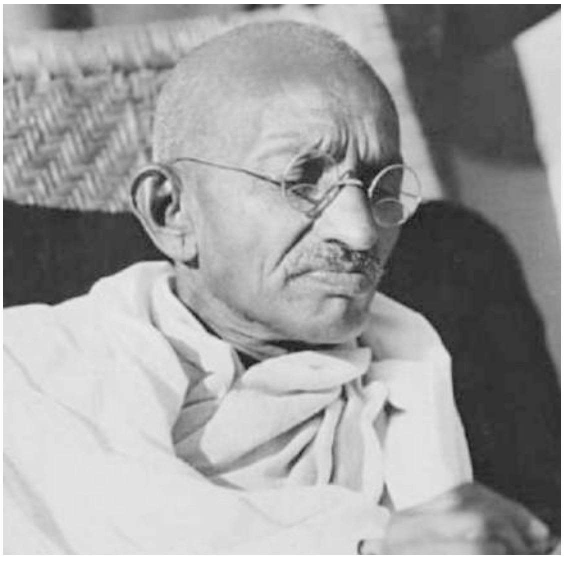

महात्मा गांधी के प्रयाण के इस माह में भारतीय स्वाधीनता संग्राम में उनके महान योगदान के लिए, भारतीय जनमानस में नयी और समन्वयवादी चेतना का संचार करने के लिए, एक समतामूलक समाज का स्वप्न देने के लिए और पूरी दुनिया के सामने अहिंसा और सत्याग्रह की महता को स्थापित करने के लिए महात्मा गांधी की पावन स्मृति को नमन। उनकी जीवन गाथा और उनके आदर्श सदियों तक मानवता का पथ आलोकित करते रहेंगे। उनके द्वारा जलायी गयी आदर्शों की मशाल विरोध की हर आंधी को पराजित करती रहेगी। ❑

❑

ब्रायना वीस्ट

व्यक्ति अपने विचारों से निर्मित प्राणी है, वह जो सोचता है वही बन जाता है। अंतर्राष्ट्रीय बेस्टसेलिंग अमरीकी लेखिका इस आलेख में सोचने का तरीका सीखने की बात कर रही है। सं.

मनुष्य के विचार ही वास्तविकता बनाते हैं!

❑

अपनी किताब सेपियन्स में, डॉ. युवल नोआ हरारी बताते हैं कि एक समय था जब धरती पर सिर्फ़ होमो सेपियन्स ही नहीं घूमते थे। असल में, शायद इंसानों की छह अलग-अलग तरह की प्रजातियाँ मौजूद थीं: होमो सेपियन्स, होमो निएंडरथलेंसिस, होमो सोलोएंसिस, होमो इरेक्टस, वगैरह। एक वजह है कि होमो सेपियन्स आज भी मौजूद हैं और दूसरे विकसित नहीं हो पाए: मस्तिष्क का 'प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स', जिसका अंदाज़ा हम कंकाल की बनावट से लगा सकते हैं।

असल में, इंसान के पास ज़्यादा जटिल तरीके से सोचने की क्षमता थी, इसलिए वह अपने जीवित रहने के लिए सही दुनिया को व्यवस्थित कर पाया, खेती कर पाया, सिखा पाया, अभ्यास कर पाया, आदत डाल पाया और आगे बढ़ा पाया। अपनी कल्पना करने की क्षमता के कारण, हम लगभग कुछ भी नहीं से आज की दुनिया बना पाए।

एक तरह से, यह विचार कि विचार ही वास्तविकता बनाते हैं, सिर्फ़ एक अच्छा विचार नहीं है; यह विकास का एक सच भी है। भाषा और सोच की वजह से ही हम अपने दिमाग में एक दुनिया बना पाए, और आखिरकार, भाषा और सोच की वजह से ही हम आज के समाज में विकसित हुए हैं - अच्छे और बुरे दोनों के लिए।

लगभग हर महान गुरु, कलाकार, शिक्षक, इनोवेटर, आविष्कारक, और आम तौर पर खुश इंसान अपनी सफलता का श्रेय इसी तरह की समझ को दे सकता है। दुनिया

के कई 'सबसे अच्छे' लोगों ने समझा कि अपनी ज़िंदगी बदलने के लिए, उन्हें अपना दिमाग बदलना होगा।

ये वही लोग हैं जिन्होंने हमें कुछ सबसे पुरानी पारंपरिक समझ बताई है: कि विश्वास करना ही बनना है, कि दिमाग पर मालिक बनना है, कि बाधा ही रास्ता है। अक्सर, हमारी सबसे ज़्यादा बेचैनी ही हमें उस तरह से सोचने पर मजबूर करती है जिसके बारे में हमने पहले कभी नहीं सोचा था। वह नई जागरूकता ऐसी संभावनाएं पैदा करती है जो कभी मौजूद नहीं होतीं अगर हमें कुछ नया सीखने के लिए मजबूर न किया जाता।

हमारे पूर्वजों ने खेती, समाज, दवाइयाँ, और ऐसी चीज़ें क्यों विकसित कीं? जीवित रहने के लिए। हमारी दुनिया की चीज़ें कभी सिर्फ़ डर का समाधान थीं। ज़्यादा दिमागी संदर्भ में, अगर आप जानबूझकर अपनी ज़िंदगी की समस्याओं को एक बड़ी समझ अपनाने के मौके के तौर पर देखना सीखते हैं और फिर जीने का एक बेहतर तरीका विकसित करते हैं, तो आप दुख के जाल से बाहर निकल जाएंगे और सीखेंगे कि फलने-फूलने का क्या मतलब है।

मेरा मानना है कि इंसान होने के काम की जड़ सोचने का तरीका सीखना है। इससे हम सीखते हैं कि प्यार कैसे करें, साझा कैसे करें, साथ कैसे रहें, सहन कैसे करें, दें कैसे, बनाएं कैसे, वगैरह। मेरा मानना है कि हमारा पहला और सबसे ज़रूरी फ़र्ज़ है कि हम उस पोटेंशियल को पूरा करें जिसके साथ हम पैदा हुए हैं – अपने लिए और दुनिया के लिए भी। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ, उसकी अनकही लाइन यह है: इस विचार ने मेरी ज़िंदगी बदल दी।

क्योंकि विचार ही ज़िंदगी बदलते हैं – और यह पहला विचार था जिसने मेरी ज़िंदगी बदली।

पौराणिक कथाओं से हटकर, आज दुनिया में कुछ दिलचस्प हो रहा है। हमारी सामूहिक चेतना बढ़ रही है। हम इस बात से ज़्यादा वाकिफ़ हैं कि क्या हो रहा है (अच्छे और बुरे दोनों के लिए), हम खुद को समझने की कोशिश कर रहे हैं, हम अपनी भावनाओं के साथ काम करना सीख रहे हैं और ऐसी ज़िंदगी बना रहे हैं जो हमारी वैल्यूज़ को दिखाती है, न कि उन चीज़ों को जिनके लिए हम मजबूर हैं।

ज़्यादातर लोगों को नहीं लगता कि वे अपनी भावनाओं को कंट्रोल करने के लिए जुनूनी हैं क्योंकि वे जानबूझकर अपनी भावनाओं के बारे में नहीं सोच रहे होते हैं। इसके बजाय, वे बाकी सभी चीज़ों के बारे में सोच रहे होते हैं जिन्हें सही होना चाहिए ताकि उन्हें कुछ भी महसूस न करना पड़े। उन्हें सफल होने के लिए कितना पैसा कमाना है, अपना साइज़ बनाए रखने के लिए उन्हें कितना खाना कम करना होगा, दूसरे लोग उन पर कैसे प्रतिक्रिया देते हैं, इसकी छोटी-छोटी बातें ताकि वे ऐसा व्यवहार कर सकें जिससे वे दूसरों को पसंद आएं। वे अपनी सोशल मीडिया प्रेजेंस के बारे में सोचते हैं, कि कोई चीज़ उनके लिए सही है या नहीं, उनका घर कितना अच्छा दिखता है। वे खुद को अच्छा बनाने के लिए भय का इस्तेमाल करते हैं।

ज्यादातर एंग्जायटी और पैनिक का मूल कारण एंग्जायटी और दर्द का अनुभव करने का डर होता है।

जब हम अपनी भावनाओं को कंट्रोल नहीं कर पाते, तो हम अपनी ज़िंदगी की फिजिकल चीज़ों को भी कंट्रोल नहीं कर पाते; हम अपनी भावनाओं को कंट्रोल करने के लिए अपनी ज़िंदगी की फिजिकल चीज़ों को कंट्रोल करते हैं। हमें लगता है कि अगर हमें कोई सोल मेट मिल जाए, तो हमारा दिल नहीं टूटेगा, अगर हम आकर्षक हैं, तो हमारी इज़्ज़त होगी, अगर दूसरे लोग हमारे बारे में अच्छा सोचते हैं, तो हम भी हमेशा अपने बारे में वैसा ही सोचेंगे। अच्छी तरह सोचने का मतलब है निष्पक्ष और तथ्यात्मक रूप से सोचना। इंसान का दिमाग खुद को सही साबित करने के लिए बना होता है; हम इस तरह से प्रोग्राम किए गए हैं कि हम ऐसे सबूत ढूंढते हैं जो उस बात का समर्थन करते हैं जिस पर हम सबसे ज़्यादा विश्वास करना चाहते हैं।

जब तक हमारा अवचेतन मन साफ़ नहीं होता, हम इसी तरह अपने सबसे मज़बूत विश्वास बनाते हैं। अगर हमें यह विश्वास दिलाकर पाला-पोसा गया है कि हम समाज से अलग-थलग हैं, तो हम हमेशा ऐसे सबूत ढूंढते रहते हैं कि असल में, हमारे साथी हमें नापसंद करते हैं।

एलन वाट्स ने सिखाया कि सुरक्षा की इच्छा और असुरक्षा की भावना एक ही चीज़ हैं कि अपनी साँस रोकना मतलब अपनी साँस खो देना है। पारंपरिक ज़ेन बौद्ध धर्म इससे सहमत होगा: संतुष्टि की इच्छा करना मतलब संतुष्टि न मिलना, खुशी ऐसी चीज़ नहीं है जिसे आप ढूंढते हैं, बल्कि वह है जो आप बन जाते हैं। ❑

पुस्तक चर्चा

हवाओं की दस्तक: स्मृतियों के पन्ने

❑

अरुंधति

दिल्ली विश्विद्यालय से सम्बद्ध सत्यवती महाविद्यालय की सहायक आचार्य अरुंधती एक पत्रकार के संस्मरणों की सद्य प्रकाशित किताब का परिचय दे रही है। सं.

❑

'हवाओं की दस्तक' प्रतिष्ठित पत्रकार अनुराग चतुर्वेदी की संस्मरणात्मक किताब है। यह किताब भले ही व्यक्तिगत स्मृतियों का लेखा-जोखा अधिक है किन्तु भारतीय सामाजिक समीकरणों, राजनीतिक उठापटक, बदलती आर्थिक संरचनाओं के साथ हिंदी-पत्रकारिता के बदलते इतिहास पर सरसरी दृष्टि भी प्रदान करती है। लेखक के संस्मरणों में एक आलोचना-तटस्थ भाव भी है। किताब में कई आदमकद हस्तियों के साथ अपनी व्यक्तिगत स्मृतियों को संजोते हुए लेखक ने भारतीय राजनीति, पत्रकारिता और भारतीय समाजिकता के बदलते ताने-बाने का ऐतिहासिक झरोखा भी प्रस्तुत किया है।

तीन खंडों में विभाजित किताब की परिचयात्मक भूमिका में ही लेखक ने पुस्तक के कलेवर को यह कहते हुए स्पष्ट कर दिया है कि यह संस्मरणात्मक पुस्तक एक हिंदी पत्रकार की उस यात्रा की बयानी करती है जहां आज़ादी के बाद का भारत है। पुस्तक से गुजरते हुए इस उक्ति की तस्कीद भी हो जाती है। किताब के पहले खंड 'झीलों की हथेली पर सोया शहर', में अनुराग अपने समय की करवटों के मध्य कैसे एक छोटा शहर बदलता है, उसकी प्रभावी स्मृतियाँ अंकित करते हैं। इस खंड के केंद्र में है 'उदयपुर' है, और उनके पिता प्रख्यात कवि एवं समाजवादी नन्द चतुर्वेदी मुख्य पात्र हैं। संस्मरण विधा में आत्मकथात्मक तत्त्वों का भी समावेश होता है किन्तु आत्म-भाव अधिक नहीं होता, यहां भी यह विशेषता दिखती है परन्तु अनेक भाव प्रसंग सही ढंग से खुल नहीं पाते।

परिवार के आदर्श वट वृक्ष के रूप में लेखक ने अपने पिता को संयमित-संतुलित भाव से याद करते हुए उनकी सामाजिक छवि को उभारने का प्रयत्न किया है। पिता-पुत्र के रिश्तों की एक झलक उनके लिखे गये पत्रों से अवश्य मिलती है, जिसमें मध्यवर्गीय भारतीय पिता की भूमिका में ही नन्द चतुर्वेदी अधिक दिखते हैं। उन पर केन्द्रित हिस्सों में स्नेहपूर्ण पित्रवत भाव की अपेक्षा उनकी सामाजिक छवि को लेखक अधिक टटोलता है। पुस्तक में परिवार की संयुक्त परिधि में कई अन्य पात्र हैं जिनके अलग-अलग प्रभाव हैं। भाई, बहन, दादी मां की भावपूर्ण स्मृतियों के साथ पड़ोसियों और उदयपुर के सामाजिक- साहित्यिक छवियों की स्मृतिपरक काव्यात्मकता लिए हुए पड़ताल भी किताब में है। उदयपुर की उपस्थिति एक पात्र के रूप में है – उसकी आबोहवा, नगर की संरचना, शहर में होते हलचल, उसकी उपलब्धि

और दुश्वारियों का भी जिक्र अनुराग करते हैं। इसी खंड में दिल्ली की स्मृतियाँ और जेएनयू प्रवास के मध्य देश में बदलते हालातों की हलचल भी लेखक के संस्मरणात्मक गद्य की बानगी में शामिल है.

दूसरा खंड 'कुर्ला से कोलाबा' अनुराग चतुर्वेदी के पत्रकारीय जीवन के पड़ावों और उनके विभिन्न ख्यातिलब्ध व्यक्तियों से निकटताओं के मध्य जीवन के उतार चढ़ावों पर केन्द्रित है जिसमें अस्सी–नब्बे के दशक में भारतीय समाज के चरित्र के गहरे हो रहे अन्तर्विरोधों की बेबाकं अभिव्यक्ति है, जो इसी दौर में देश की राजनीति तथा पत्रकारिता में औधोगिक घरानों के प्रवेश और पारम्परिक पत्रकारिता के बदलते चेहरे तथा देश के बदलते राजनीतिक चरित्र का लेखा–जोखा भी दर्ज करती है, जिसमें पत्रकारिता में बढ़ती पूंजीवादी धमक और साम्प्रदायिक आहटों से बदलते सामाजिक–समीकरणों का भी बेबाक पक्ष है।

लेखक के सेंसर बोर्ड में प्रवेश से लेकर भारतीय राजनीतिज्ञों से घनिष्ठता, अनिल अम्बानी और देवड़ा परिवार के साथ निकटता, अभिनेताओं और साहित्यकारों से लगातार सम्पर्क और अंततः पूर्णकालिक पत्रकार से हटकर स्वतंत्र लेखन एवं समाज सेवी की भूमिका में प्रवेश, इन सभी को बड़े रोचक ढंग से पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।

अनुराग चतुर्वेदी इस किताब में धर्मवीर भारती को सबसे अधिक याद करते हैं जिन्हें वे हिंदी पत्रकारिता के ऐसे धुरंधर के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो हिंदी की सामान्य दुनिया से अलग अपना स्थान रखते हैं – वह चाहे उनकी

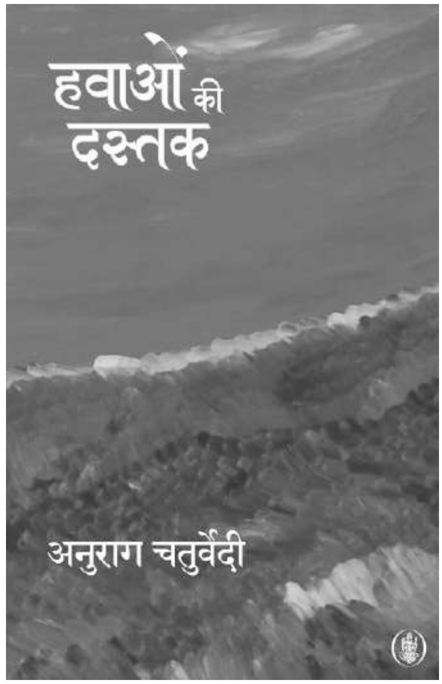

वेशभूषा हो, अथवा कार्यशैली। 'धर्मयुग' के बहाने भारती के व्यक्तित्व के अनसुने पहलुओं को अनुराग उद्घाटित करते हैं। भारती संयमी हैं, मेहनती हैं, सुर धर्मयुग के लिए बेहद समर्पित, किन्तु उनके चरित्र में ठस जड़ता भी है। वेतनभोगी पत्रकार एक समय पर उन के ख़िलाफ़ खड़े होने की हिम्मत करता है और धर्मवीर भारती अपने व्यवहार–कुशल प्रोफेशनलिज्म से उन्हें शांत भी कर देते हैं। धर्मवीर भारती को हिंदी साहित्य में जिस तरह से देखा जाता है उस से अलग छवि इस संस्मरण में उभरी है।

इस किताब में नन्द चतुर्वेदी के बाद किसी को लेखक ने सबसे अधिक याद किया है वह धर्मवीर भारती ही हैं। किताब में अनुराग तटस्थ रूप से उस समय अपना आदमकद स्थापित कर चुके भारती के व्यक्तिव के अंतर्विरोधों पर अधिक केन्द्रित होते हैं। इसके अलावा पत्रकार जीवन में बने कई संपर्कों और लोगों की स्मृतयों को संजोते हुए लेखक ने लगभग सभी बड़े नेताओं और अभिनेताओं के साथ–साथ साहित्यकारों पर भी लिखा हैं।

अंतिम खंड 'जहाँ और भी है' अनुराग के जीवन में आए प्रसिद्ध पत्रकार, राजनीतिज्ञों और सहयोगी करीबियों की स्मृति पर केन्द्रित है। यह खंड व्यक्तित्व केन्द्रित संस्मरण शैली में लिखा गया है। 'ओम थानवी', दिलीप भाई', 'दिग्विजय सिंह', 'जार्ज फर्नांडिस', 'लालू यादव', 'शरद यादव', 'नितीश कुमार', 'चन्द्रशेखर' के बहाने भारतीय राजनीति के सबसे बड़े जननायकों के चरित्रों को भी वे अपनी नजर से प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उनके व्यक्तिगत पहलू भी शामिल हैं।

लेखक का परिवार समाजवादी विचारधारा का रहा और वे भी जीवन पर्यन्त समाजवादी वैचारिकी से प्रभावित रहे। आम लोगों के बीच अपनी सादगी के साथ प्रस्तुत होने वाले नेताओं के प्रति उनकी दृष्टि में सम्मान झलकता है। किताब विशेष रूप से समाजवादी नेताओं की राजनीति को रेखांकित करती है। उस दौर में जार्ज फर्नांडिस ने अलग ख्याति अर्जित की थी। वे युवा राजनीति के सबसे क्रांतिकारी चेहरे के रूप में उभरे थे। किताब में जार्ज फर्नांडिस की उपस्थिति इसी तरह की है। दूसरी तरफ वे दिग्विजय सिंह को अनोखे अजातशत्रु के रूप में देखते है। जेएनयू के दिनों से बनी घनिष्ठता समय के साथ प्रगाढ़ हुई और उनके राजनीतिक जीवन में अनुराग चतुर्वेदी की साझेदारी बनी रही। इस खंड में जिस किसी भी व्यक्ति की स्मृति को स्थान दिया गया है, उसमें सम्मान और स्निग्धता स्पष्ट है।❑

भवानी शंकर व्यास 'विनोद' नहीं रहे

मे हिंदी- राजस्थानी कवि, शिक्षाविद् , संपादक, कुशल मंच संचालक, बीकानेर के चलते- फिरते एनसाइक्लोपीडिया भवानी शंकर व्यास 'विनोद' नहीं रहे। साहित्य के वटवृक्ष मानिंद भवानीशंकर जी का तीन दिसंबर को 90 वर्ष की उम्र में उदयपुर में निधन हो गया।

वे एक उत्कृष्ट कवि और गद्यकार थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी।

वे बीकानेर शहर की रौनक हुआ करते थे। अपने समय में उनका अपना एक लोकप्रिय कवि परिवार था। हर शाम हरीश भदानी, मोहम्मद सद्दीक, धनंजय वर्मा, भीम पण्ड्या तथा महेश जोशी के साथ जयहिंद होटल में इनकी महफिल सजती थी।

वे हमें डांटते-फटकारते भी थे और प्यार भी बहुत करते थे। उनकी ही शिक्षा की बदौलत हम जीवन में कुछ बन सके। वे मुझे भी हमेशा लिखने के लिए प्रेरित करते और ऐसा वक्त भी आया कि मेरे पत्र 'बीकानेर एक्सप्रेस' में इनकी रचनायें छपती थी।

अपनी उम्र के आख़िरी पड़ाव में वे अपने पुत्र केंसर रोग के विशेषक्ष डा. राकेश के साथ उदयपुर में रह रहे थे। उनका चले जाना बीकानेर के साहित्यवर्ग की बहुत बड़ी क्षति हैं जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। **–मनोहर चावला** ❑

RS-CIT
एक परिपूर्ण कंप्यूटर कोर्स !

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज

- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

Rajasthan Knowledge Corporation Limited
(A Public Limited Company Promoted by Govt. of Rajasthan)

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें
या 9571237334 पर WhatsApp करें

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा
7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

अनौपचारिका: पृष्ठ-28, जनवरी, 2026 रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नयी दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका **RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x**

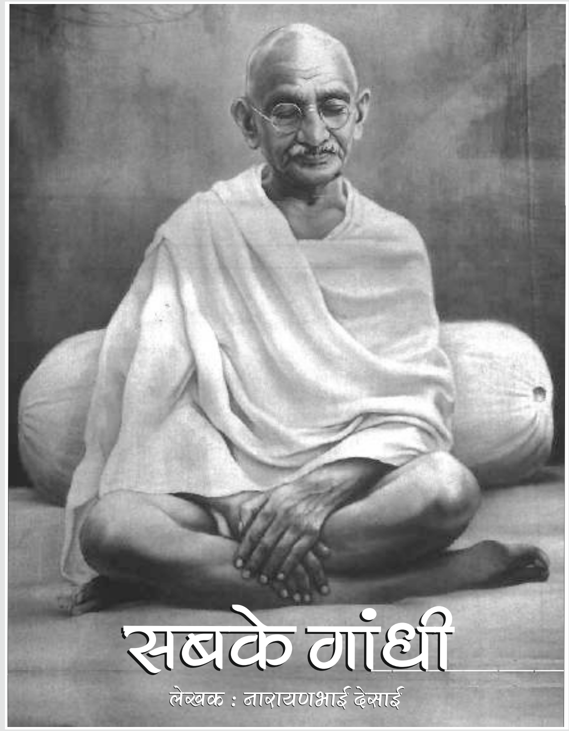

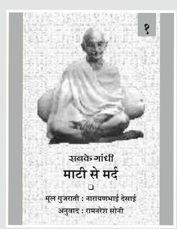

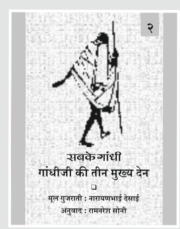

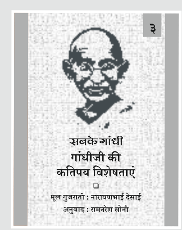

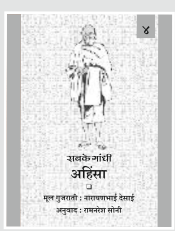

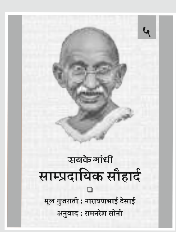

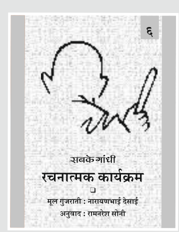

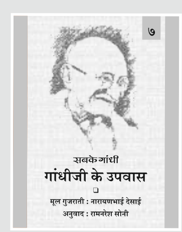

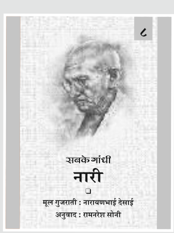

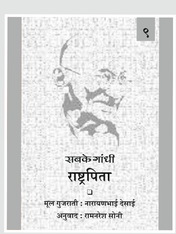

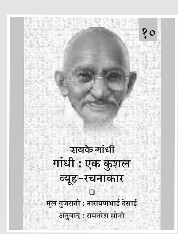

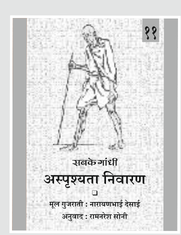

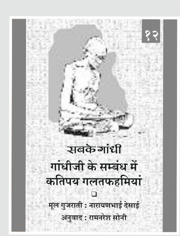

सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext. Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/- मात्र डाक खर्च रुपये 75/- अलग से देय होगा।